ISSN 2231- 3923

CREATION

INTERDISCIPLINARY RESEARCH JOURNAL

Arya Mahila P.G. College, Chetganj, Varanasi

Admitted to the Privileges of
Banaras Hindu University

Vol.II | No. 2 | July-Dec 2011

Chief Editor & Principal
Dr. Rachana Dubey

Editors

Dr. Uma Pant (09839603224)

Dr. Brijbala Singh (09452566218)

Arya Mahila P.G. College, Chetganj, Varanasi
Tel No.: 0542-2411893
Fax : 0542-2401287
e-mail : ampgc.vns@gmail.com

Patrons
Dr. C. K. Mishra
Dr. Shashi Kant Dixit

Editorial Advisory Board

Prof. S.D. Mishra,
(Ex. V. C. Rajasthan Sanskrit University, Jaipur, Rajasthan)

Prof. R.C. Sharma
(Ex. V. C. Mahatma Gandhi Kashi Vidyapeeth, Varanasi)

Prof. A. K. Chatterjee,
(Ex. Head - Deptt. of Philosophy & Religion, B.H.U. Varanasi)

Prof. Anand Prakash Tripathi
(Head Deptt. of Hindi Dr. Hari Singh Gaur Vishwavidhyalay, Sagar M.P.)

Prof. Harikesh Singh
(Faculty of Education, B.H.U. Varanasi)

Prof. Avinash Srivastava
(Deptt. of Philosophy, Nalanda University)

Prof. Radheya Shyam Dubey
(Head Deptt. of Hindi, B.H.U. Varanasi)

Bi-Annual Research Journal

© Arya Mahila P.G. College, Chetganj, Varanasi

Printed by
Kabra Offset, *Ravindrapuri, Varanasi.*

Published by
SURUCHI KALA PRAKASHAN
B 23/45, Gha-A-S, Nai Bazar, Khojwan,
Varanasi, U.P. (INDIA) Mob.: 9450016201
e-mail : suruchikalas@yahoo.in

Note : *Scholars will be answerable to the contents of their articles.*

हम सभी महामना की 150वीं जयन्ती 'ज्योति पर्व' के रूप में मना रहे हैं।

सच्चरित्र व्यक्ति में मानव स्वभाव का सर्वोच्च रूप दिखायी देता है। उसी में नैतिक विधान अपना मूर्त रूप लेता है। वे ही किसी समाज की नैतिक अंतरात्मा का प्रतिनिधित्व करते हैं। सच्चरित्र व्यक्ति ही एक सुव्यवस्थित समाज की उत्प्रेरक शक्ति होते हैं, क्योंकि नैतिक मूल्य—मर्यादाओं से विश्व का संचालन होता है। किसी देश की शक्ति, उसके उद्योग—धन्धे और आर्थिक क्षमता तथा उसकी सभ्यता, ये सभी उसके सदस्यों के व्यक्तिगत चरित्र पर निर्भर करते हैं। वही नागरिकों की सुरक्षा का सशक्त आधार है। समाज की विधि व्यवस्था तथा अन्य सामाजिक संस्थायें इसी आधार पर स्थापित और विकसित होती हैं।

महामना मालवीय जी द्वारा 1911 में प्रकाशित काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की प्रस्तावना के कुछ अंश

Editor's Note

It gives me immense pleasure that Arya Mahila P.G. College, Varanasi is bringing out the volume II, No.-2, 2011 of its journal *CREATION*. This journal is an interdisciplinary, bilingual research journal which includes articles in Hindi and English Language. It is being published twice a year i.e. in the month of June and December every year.

This issue of the journal includes the articles from various subjects like literature, Philosophy, Psychology, History, Education and Sociology. This shows the multi dimensional characteristic of the journal.

I am happy that the message and circulation of the journal is not only confined to the state of Uttar Pradesh, but are from the other state like Bihar, West Bengal and Assam. I hope its wide publicity would in near future extend to other states also.

My request to the readers and contributors of our journal is to encourage us with the supporting spirit. Each suggestion and comment for improving the quality of the journal is always welcomed.

I am confident that the readers of this journal will explore new avenues of research and academic excellence.

Best Wishes,

Chief Editor

Rachana Dubey

Volume II, No.-2, 2011, Dec

Content

तन्त्रागम का संक्षिप्त विवरण एवं शैवागमों में पंचकृत्व की धारणा — **1-6**
डॉ० रमा घोष

नई सदी में हिन्दी का वैश्विक परिदृश्य — **7-10**
रफिकुल हक

अधिगमशील समाज हेतु शिक्षक सशक्तीकरण — **11-16**
सुश्री आरती श्रीवास्तव

श्री अरविन्द के चिन्तन के आलोक में मानवता का भविष्य — **17-23**
डॉ० मधु सिंह

वाराणसी की औद्योगिक एवं व्यापारिक स्थिति — **24-30**
डॉ० पद्मा मिश्रा

हिन्दी : भारत की भारती — **31-35**
डॉ० आशा तिवारी ओझा

तपस्वी महामना के जीवन की झलकियाँ — **36-43**
डॉ० मंजु बनिक

क्या साहित्य–सिद्धान्त का कोई वर्गीय आधार होता है — **44-46**
डॉ० वीना सुमन

श्री अरविन्द दर्शन और कविवर सुमित्रानन्दन पंत — **47-53**
डॉ० मीनू अवस्थी

मीडिया और हिन्दी — **54-60**
डॉ० नीलम महतो

लोक कथाओं में बसा जीवन — **61-72**
डॉ० बृजबाला सिंह

समाज की दर्शन से अपेक्षाएँ — **73-75**

डॉ० अनामिका सिंह

मानव अधिकार का प्रश्न **76-83**
मुकेश कुमार मालवीय

'नैषध' के आलोक में श्रीहर्ष का व्यक्तित्व **84-88**
डॉ० मंजू कुमारी

थारू जनजातीय समाज : एक नृजातीय
पुरातात्विक अवलोकन **89-94**
नरेश सिंह

1857 का विद्रोह : स्वरूप पर लगे प्रश्नचिह्न **95-97**
पूनम

बंगाल एवं बिहार के अभिलेखों में वर्णित
अर्थव्यवस्था का अवलोकन (800–1200 ई०) **98-100**
चन्द्रशेखर सिंह

हिन्दी साहित्य के पक्षधर पं० विद्यानिवास मिश्र **101-106**
डॉ० सुरेन्द्र पाण्डेय

सांस्कृतिक समारोहों की अनुपम नगरी 'काशी' **107-110**
श्री महेन्द्र मिश्र

भारतीय शास्त्रीय संगीत और पाश्चात्य संस्कृति एक विवेचन **111-113**
सुश्री अनामिका दीक्षित

ग्रामीण सामाजिक रूपान्तरण दशा और दिशा :
एक समाज शास्त्रीय अवलोकन **114-117**
विपिन कुमार तिवारी

मानव जीवन में ताल का मनोवैज्ञानिक प्रभाव **118-120**
पूर्णेन्द्र मिश्र

जैन साधना एवम् पन्च महाव्रत **121-124**
डॉ० सन्ध्या श्रीवास्तव

पूर्व मध्यकालीन भारत में स्त्री सम्मान :
सुरक्षा और सरोकार के सन्दर्भ में **125-127**
सुश्री अंजना वर्मा

सांख्य दर्शन एवं चरक संहिता में मन की अवधारणा **128-135**
डॉ० सीमा सिंह

छत्तीसगढ़ की बैगा जनजाति का सामाजिक अध्ययन **136-137**
सपना बन्द्योपाध्याय

The Atriscal (Prop) Erties in Harold
Pinter's The Birthday Party **138-144**
Tuhin Majumdar

Motherhood and Quest for Selfhood in
Margaret Laurence's A Jest of God **145-152**
Dr. Kavita Arya

Vipāsanā : The Technology of Spiritual Development **153-**
159 *Dr. Uma Pant*

Children with Special Needs in Indian Perspective **160-164**
Dr. Anita Agrawal

Sufism and Its Prominent Order in India **165-168**
Dr. Meraj Hashmi

Implication of Constructivism Theory on Classroom Teaching in
Educational Psychology **169-174** *Miss.*
Preeti Sangwan

Higher Education : Instruction in a
System's Perspective **175-185**
Amit Jayaswal

तन्त्रागम का संक्षिप्त विवरण एवं सैवागमों में पंचकृत्च की धारणा

डॉ0 रमा घोष

सदस्य, प्रबन्ध समिति तथा पूर्व अध्यक्ष, दर्षनषास्त्र विभाग,

आर्य महिला पी0 जी0 कालेज, वाराणसी

वेद एवं आगम दोनों ही भारतीय आध्यात्मिक संस्कृति के आधारभूत ग्रन्थ के रूप में मान्यता प्राप्त हैं। ऋशियों के समाधि में आध्यात्मिक चेतना के रूप में वेद का प्रकाशन हुआ जबकि तन्त्रागम स्वयं भगवान शिव द्वारा प्रकाशित शास्त्र है जो विशिष्ट सिद्धान्त एवं आध्यात्मिक प्रणाली से समन्वित है। अतः निगम एवं आगम दोनों ही दैवी प्रकाशन के रूप में नित्य, शाश्वत ज्ञान एवं जीवन–प्रणाली है। इतिहास में संहिता को वैष्णवों के, आगम शैवों के तथा तन्त्र शास्त्रों के पवित्र आधारभूत ग्रन्थ माने जाते थे, परन्तु आधुनिक काल में जैसे आगम शब्द से शैव एवं वैष्णव दोनों ही शास्त्रों का बोध होता है, वैसे संहिता शब्द से केवल वैष्णव शास्त्रों का बोध नहीं होता हैं, वरन् आयुर्वेद, ज्योतिष, पुराण आदि से संबद्ध ग्रन्थों की एक विशाल राशि समझी जाती है। इन ग्रन्थों की कुछ सामान्य विशेशताएँ हैं, जिनके कारण आगम, संहिता, तथा तन्त्र करीब एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते हैं जिसके कुछ सामान्य विशेषताओं वाले एक विशाल भारतीय वाड्.मय का बोध होता हैं।

प्राचीन भागवतों अर्थात् पांचरात्रों एवं पाशुपतों ने ऐसी एक उपासना पद्वति का विकास किया, या जिसमे आराधक – आराध्य के मध्य आन्तर एवं बाह्य वरिवस्या के द्वारा तादात्म्य स्थापित करने के उद्देश्य से भूत–शुद्वि, प्राणप्रतिष्ठा, न्यास, एवं मुद्राओं की सहायता से स्वयं देव–स्वरूप में रूपान्तरित होकर अपने आराध्य को इन्ही विधिओं से मूर्ति, पट यन्त्र या मण्डल में प्रतिष्ठित करते हैं एवं आराध्य का बाह्य वरिवस्या सम्पादित करते हैं जिसमें व्रत, उपवास, उत्सव, पर्व आदि के विधान हैं। तदनन्तर आन्तर वरिवस्या के लिए कुण्डलिनी योग की उपासना की जाती है। इस विलक्षण वरिवस्या पद्धति के विकास के लिए जिस विशाल शास्त्र का आविर्भाव हुआ वही आगम या तन्त्रशास्त्र के नाम से जाना जाता है। बाह्य वरिवस्या के लिए मन्दिर और मूर्तियों की निर्माण विधि एवं उपासना पद्धति का वर्णन पाया जाता है तथा आन्तर वरिवस्या के लिए विद्या एवं योग पद्वति का विकास हुआ है। अतः आगमों में विद्या (ज्ञान) योग, क्रिया और चर्या नामक चार पादों का विधान दिया गया है। जो 'देवो भूत्वा देवं यजेत' के सिद्धान्त से अनुप्राणित है।

तन्त्रशास्त्र की दूसरी विशेषता उसकी दीक्षा पद्धति का माहात्म्य है। दीक्षा के माध्यम से शिव–शक्ति का आविर्भाव होता है जिसमें साधक को अण्ड (ब्रह्माण्ड) एवं 'पिण्ड'

के (व्यक्ति सत्ता) तादात्म्य का बोध होता है। परमात्म शक्ति ही कुण्डलिनी तत्त्व के रूप में मनुष्य में विद्यमान है। इस रहस्य की चेतना मातृकाओं और वर्णों के यथार्थ प्रयोग से होती है। मानव शरीर विश्व की सर्वव्यापक एवं स्पन्दात्मक शक्तियों का प्रतिरूप है। मनुष्य विश्व के साथ संबन्ध रखते हुए विश्वातीत के साथ भी सम्बद्ध रहता है।

तन्त्रागम की और एक मुख्य विशेषता यह भी है कि परमाशक्ति भुक्ति मुक्ति प्रदायिनी मानी गई है।

''मालिनी विजयं तन्त्रं परमेश मुखोदगतम्।
भुक्ति मुक्ति प्रदातारमुमेश ममराचितिम्।। 7।।

तन्त्रशास्त्र मानवमात्र का धर्मग्रन्थ हैं। वर्ण तथा लिंगभेद पर बल नहीं देता, वरन् गुरु द्वारा स्वीकृत अधिकार–भेद ही इसका एकमात्र प्रामाणिक आधार है। प्रसिद्व विद्वान डा. प्रबोध चन्द्र बागची ने तन्त्रों के दो मोटे विभाग किये हैं– शास्त्रानुमोदित, जिसमें उन्होंने आगम, यामल तथा इनसे संबद्ध साहित्य को रखा है और दूसरा शास्त्रानुवर्ती तन्त्रों में कुला चार, वामाचार, सहजयान वज्रयान इत्यादि को। उनके अनुसार आठवीं षती के आसपास भारतीय तन्त्रशास्त्र तिब्बत में प्रविश्ट हो गया था। बाद में पारस्परिक आदान–प्रदान से परवर्ती काल में होने वाले एक समन्वित भावधारा के विकास को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। वस्तुतः भारतीय तन्त्रशास्त्र की सभी शाखाओं की उत्पत्ति मूलतः भारत में ही हुई है। वैदिक, बौद्ध, जैन, षैव, शक्ति वैष्णव– ये सभी भारतीय ज्ञान हैं जो एक ही सांस्कृतिक पृष्ठभूमि से उद्भूत हुए हैं। पुराणों के साथ भी आगमों के पर्याप्त आदान–प्रदान एवं समन्वय हुए हैं। क्योंकि भारतीय वाङ्मय में समन्वय की प्रधानता है।

विद्वानों के अनुसार छान्दोग्य उप0 शुल्क यजुर्वेद के शतरुद्रिय अध्याय तथा कृष्ण यजुर्वेद के कई संहिताओं में पाशुपत मत की झलक मिलती है। 'एकायन' शब्द पॉचरात्र श्रुति को निर्देशित करता है। विगत ढाई हजार वर्श के धार्मिक, दार्शनिक और सांस्कृतिक इतिहास पर आगम अथवा तन्त्रशास्त्र की गहरीछाप पड़ी है और आज का भारतीय जन जीवन वैदिक धर्म की अपेक्षा तान्त्रिक धर्म से संचालित हो रहा है।

सामान्य तौर पर उपर्युक्त विशेषताओं से विभूशित विशाल तन्त्रागमीय साहित्य को वैष्णव, शाक्त एवं शैवतन्त्र के रूप में तीन भागों में विभाजित किया गया है। पुनः वैष्णव आगम को तीन भागों में बॉटा गया है। वैखानस, पांचरात्र और भागवत। पांचरात्र आगम में सात्वत पौष्कर एवं जयाख्य संहिताएँ विशेष स्थान रखती हैं। हयशीर्ष पंचरांत्र में पांचरात्र और भागवत तन्त्रों की नामावली का उल्लेख मिलता है। पाश्तात्य विद्वान श्राडर ने 215 संहिताओं को पांचरात्र संहिता के अंतर्गत स्वीकार कर लिया। आधुनिक विद्वानों के अनुसार 275 संहिताओं की सूची प्राप्त हो चुकी है।

शाक्त तन्त्रों की जो विशाल सूची आचार्य गोपीनाथ कविराज ने ''तान्त्रिक साहित्य'' नामक ग्रन्थ में प्रदान किया है उससे इस साहित्य की विशालता एवं दार्शनिक

गहनता का परिचय मिलता है। 'ब्रह्मसूत्रस्य शक्ति भापयम्' नामक ग्रन्थ की भूमिका में कई मुख्य शाक्त तन्त्रों का उल्लेख उन्होंने किया है जो इस प्रकार हैं– मालिनी विजय, स्वच्छन्द तन्त्र, परात्रिंशिका, त्रिपुरा रहस्यम, योगिनी हृदय (दीपिका, सेतुबन्ध), मातृका–चक्र–विवेक, कामकला विलास, वरिवस्या रहस्यम् (सुभगोदय) सौन्दर्य लहरी, प्रपंचसार तन्त्रम्, तन्त्रराज तन्त्र इत्यादि।

तीसरे प्रकार का तन्त्र अर्थात् शैवतन्त्रों का उल्लेख तन्त्रालोक विवेक में उद्धृत श्री कण्ठी संहिता एवं किरणागम में प्राप्त होता है। 10 शिवागम एवं 18 रूद्रागमों का मूलश्रोत शिव का ऊर्ध्व मुख से चौबीस भेद वाला दक्षिण मार्ग अथवा 64 भेद वाला अद्वयदृष्टि प्रधान भैरवागम का आर्विभाव दक्षिण मुख से, 28 भेद वाला गारुड विभाग पूर्व तत्पुरुष मुख से एवं भूत तन्त्रों के उद्भव पश्चिम मुख माना गया है। अजितागम भी 28 सिद्धान्त आगमों के विवरण प्राप्त होते हैं जो निम्नलिखित हैं–

ऊर्ध्व (ईषान) मुख से विनिर्गत – कामिक, योगज, चिन्त्य, कारण, अजित, दीप्त, सूक्ष्म, सहस्त, अंशुमत, सुप्रभेद।

सद्योजात मुख से विनिर्गत – विजय, पारमेश्वर, निःश्वास प्रोदगीत, मुखबिम्ब।

वामदेव मुख से विनिर्गत – सिद्ध, सन्तान, शवेक्ति, चन्द्रज्ञान और विमल।

अधोर मुख से विनिर्गत – स्वांयभुंव, वीर, रौरव मुकुट और किरण।

तत्पुरुश मुख से विनिर्गत – ललित, आग्नेय, वातुल

अन्यत्र थोड़ा भिन्न क्रम भी प्राप्त होता है। इन आगमों के प्रथम वक्ता, अनुवक्ता एवं श्रोता तथा श्लोक संख्या इत्यादि भी अजितागम में दिये गये हैं। 207 उपागमों की सूची भी प्राप्त होती है। पशुपति शिव के पाँच मुखों से पाँच श्रोत के रूप में सिद्धान्त, गारूड़, भूत, दक्ष और वाम शास्त्रों का आर्विभाव हुआ। विष– चिकित्सा के रूप में गारूड तन्त्र की संख्या 28, भूत, ग्रह आदि बाधाओं के निवारक के रूप में भूत – तन्त्रों की संख्या 20, षत्रु– नाशक के रूप में भैरव– तन्त्र की संख्या 64, सर्ववशीकरण में समर्थ वाम तन्त्रों की संख्या 24 मानी गई। कुल मिलाकर पाँच मुखों से निःसृत शैव तन्त्रों की संख्या (उपागमों को छोडकर) 164 बताई गई है। सदाशिव के पाँच मुखों से लौकिक, वैदिक, आध्यात्मिक, अतिमार्गिक एवं मान्त्रिक विभागों की उत्पत्ति मानी गई है। मृगेन्द्रागम के चर्यापाद में आठ अनुस्त्रोतों के नाम इस प्रकार हैं– शैव, मान्त्रेश्वर, गाणप, दिव्य, आर्ष, गौह्यक, योगिनी कौल और सिद्धकौल। नेत्रतन्त्रोद्योत ग्रन्थ में क्षेमराज द्वारा की गई स्तोतों की चर्चा आगे चलकर षडाम्नाय में परिणत होती है। पंच मुख की दिशा के आधार पर पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण एवं ऊर्ध्व आम्नाय तन्त्रालोक में भी स्वीकृत है। सामान्यतः स्रोतों– विभाग शैवागमों में एवं आम्नाय विभाग शाक्तगमों में मान्य है। नित्याषोडषोकार्णव में चार तथा सौन्दर्य लहरी में छः आम्नाय सूचित किये गये हैं। शक्तिसंगम तन्त्र के विभिन्न स्थान मे पाँच, छः, नौ एवं अष्टादश आम्नाय की चर्चा प्राप्त होती है। इस प्रकार विभिन्न विभाग एवं उपविभागों को सम्मिलित करते हुए विशाल

तन्त्रागम शास्त्र का एक वृहद् अंश ही लुप्त हो गया है, ऐसा आचार्य गोपीनाथ कविराज का कहना है।

तन्त्रागमीय शास्त्र का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करने के उपरान्त शैवागमों के अनुसार पंचकृत्य के कुछ संदर्भ प्रस्तुत किये जा रहे हैं। शैवागमों के अनुसार परमत्त्व सच्चिदानन्द शिव ईच्छा, ज्ञान क्रियाशक्ति के द्वारा लीला करता है जो पाँचरूपों में प्रकाशित होने के कारण 'पंचकृत्य' कहलाता हैं। ईच्छा–ज्ञान–क्रिया विभिन्न रूपों में प्रकाशित शिव–शक्ति ही है जो शिव से तादात्म्य या अभेद है।

अथ देवादि देवस्य शिवस्यमित तेजसः।
सर्वानुग्राहिका शक्तिरमोधा बलशालिनी।। 1।।
स्वायंभुवागम, विद्यापाद, पटल ।।।

सृष्टि असीम, अनन्त तत्त्व की स्वाभाविक अभिव्यक्ति के रूप में उन्मीलन तथा संहार उसी प्रकिया के विपरीत क्रम के रूप में संकोचन है। इन दोनों की मध्यावस्था ही स्थिति मानी जाती है। अपने स्वरूप के आस्वादन के लिए निग्रह एवं अनुग्रह भी नितान्त स्वाभाविक प्रक्रिया है। शिव अपनी ही शक्ति के द्वारा अनन्त स्वरूपता को आच्छादित करता हुआ सीमित, आपेक्षिक रूप में लीला करता है, पुनः उस मित्थ्या आच्छादन को अपसारित करके स्वाभाविक आनन्दस्वरूपता का आस्वादन करता है जिन्हें क्रमशः निग्रह एवं अनुग्रह कहा जाता है। पंचकृत्य शिव के आनन्द स्वरूप की स्वाभाविक अभिव्यक्ति है, जिसे वह अपनी ही शक्ति से सम्पादित करता है।

जगज्जन्म स्थिति ध्वंस तिरोभाव विमुक्तयः
कृत्यं सकारकफलं ज्ञेयमस्यैतदेव हि।। 3।।
– मृगेन्द्र तन्त्र, विद्यापाद, पटल

शिव–शक्ति ही निमित्त कारण के रूप में सभी का आधार प्रस्तुत करती हुई संचालन भी करती है।

करणम् च न शक्तयन्यत शक्ति नी चेतना चितः
विषया नियमाद् एकं बोधे कृत्ये च तत् तथा। – मृगेन्द्रागम, 3–4

शिव–शक्ति ही कर्तृ और करण के रूप में सार्वभौम है। भूतानि चाऽहं स्थिराजंगमानि यावन्ति चाडन्यान्यहम् एव तानि।

————————देवी कालोत्तरागम।

शिव–शक्ति के इच्छानुसार ही निखिल जगत स्थावर, जंगम सबकी उत्पत्ति होती है एवं शिव की इच्छा से ही सभी संचालित भी होते हैं।

तेम्योऽपि सा□चनाश्चान्ये पतीच्छानु विधायिनः।
येभ्यो निखिलमुत्यन्नं जगत स्थावर जंगमम्।। |5।।
– स्वायंमूवागम, विद्यापाद, पटल

शिव की इच्छा से ही जीव का बन्धन भी होता है जिसे निग्रह या तिरोधान कहा जाता

है एवं पुनः मोक्ष प्राप्त करके वह शिव–स्थिति को लाभ करता है जिसे अनुग्रह कहते हैं।

पुंबन्धभावमापन्ना पत्युरिच्छया। व्युत्क्रमेणा–
पनेययासौ शिवाय गमनं प्रति।।

– स्वायंभूवागम, विद्यापाद, पटल पप्ए 92

अचेतन माया का संचालन भी सर्वज्ञ सर्वव्यापक शिव ही करता है–

अचेतनस्य मायादेः प्रवर्त्तकतया पतिः। सिद्धः सर्वाथविद् कर्त्ता व्यापकः सतोदितः।।
–विश्व सारोत्तर तन्त्र।

अनादि मल से आबद्व आत्मा तत्त्व पशु कहलाता है।

अनादिमलः पुंसा पशुत्वं परिकीर्तितम्।।

–स्वायं भूवागम, विद्यापाद, पटल।।

पाशबद्ध आत्मा को विश्वप्रपंच में शिव ही संयुक्त कर देता है–

तत्सृश्टौ विनिमित्तानां तदायुक्ता शिवेच्छया।

– पराख्यातन्त्र, पटल। 25 प्टण

तदनन्तर क्रमशः मलपरिपाक एवं कर्मसाम्य के उपरान्त शक्ति निपात होता है। शक्ति–निपात ही अनुग्रह शक्ति का प्रकाशन है जो शिवत्व को प्रदान करते हुए आत्मा को मोक्ष प्रदान करता है।

परिपाकात्फलं तस्या बीजक्षेपाधया भुवि।
आनन्दलक्षणं तत् स्याच्छिवत्वं मुक्ति दं फलम्। 45

– पराख्य तन्त्र, पटल, ग्टण

अनुग्रहशक्ति के प्रकाशन से ही पाश – बन्धन का मोचन होता है। तासां माहेश्वरी शक्तिः सर्वानुग्राहिका शिवा। धर्मानुवर्तनादेव पाश इत्युपचर्यते।

–मृगेन्द्रागम, विद्यापाद, पटल टप्. ग22

षिव–षक्ति ही शिवज्ञान को प्रदान कर सकती है। मल, माया, कर्म के बन्धन से मुक्त करते हुए शिवज्ञान के द्वारा शिवत्व प्रदान करना ही शिव–शक्ति का कार्य है।

अयात्म मल मायाख्य कर्म बन्ध विमुक्तये।
व्यक्तये च शिवत्वस्य शिवज्ञांन प्रवर्तते।

– स्वायंभूव सूत्रसंगह, विद्यापाद, पटल, 1,2

गुरु दीक्षा विधि से ही उक्त कार्य को सम्पन्न करता है। दीक्षा ही शिव–शक्ति का आर्विभाव है जिससे आत्मा– केवल, सकल एवं शुद्धवस्था को पार करते हुए शिवानन्द में निमज्जित हो जाता है।

अयात्म विमलो बद्धः पुन मुक्तश्च दीक्षया।
विज्ञेयः स त्रिधावस्थः केवलः सकलोऽमलः।।

– स्वायंभूवागम, विद्यापाद, पटल।

शिवानन्द में निमज्जित होना ही परम प्राप्ति है। तीव्रतम अनुग्रह शक्तिपात से

ही यह सम्भव हो सकता है।

आनन्दगुण संयोगादान न्देनैव भावितः।
आनन्द भोग सम्पन्नो ब्रहमास्मिन् शिववत् स्थित

– पराव्यतन्त्र, विद्यापाद, पटल ग टप 71।

कमइ

नई सदी में हिन्दी का वैष्विक परिदृष्य

रफिकुल हक

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, पाण्डु महाविद्यालय, गुवाहाटी (असम)

वर्तमान समय में पूरे विष्व में हिन्दी में अनेक विकासात्मक कार्यकलापों में आषातीत वृद्धि हुई है। जिनमें कई अभिनव उपक्रम और नवीनतम योजनाओं को मूर्तरूप में साकार किया गया हैं। प्रबंधन, तकनीकि, व्यापार, सम्प्रेशण, सांस्कृतिक–साहित्यक कार्यकलाप, सूचना प्रोद्योगिकी, पयर्टन, अनुवाद, दूरषिक्षा, साइवर, साहित्य–कला सृजन आदि में हिन्दी के प्रयोग द्वारा हिन्दी परिसर बढ़ता जा रहा हैं। वस्तुतः विकास के लिए भाशा और भाशा के लिए विकास अति आवष्यक है। आज हिन्दी राश्ट्रीय चेतना, गौरव और विकास का प्रतीक है। आज हिन्दी भाशा के माध्यम से देष तथा विदेषों में भी सद्भावना, षान्ति, एकता और प्रगति के संदेष फैलाने की आवष्यकता हो गयी है। प्रवासी या भारतवंषी भारतीय भले ही किसी भी देष में रहे हों, परन्तु उनके दिल में भारत की संस्कृति और भाशा के लिए अपार प्रेम है।

राश्ट्रभाशा समिति (वर्धा), हिन्दी साहित्य सम्मेलन, (इलाहाबाद) और हिन्दी साहित्य परिशद् (इलाहाबाद) भारत की सबसे अधिक ऊर्जावान और सक्रिय समितियाँ हैं जो हिन्दी को विष्वस्तर या विष्वमंच या विष्व पंचायत तक पहुँचाने तथा हिन्दी को क्रियाषील और गतिषील बनाने का महान कार्य कर रही हैं। जो भी चीजें, भाशाएँ, बातें, कल्पनाएँ आदि किसी एक देष की राजनीतिक सीमा का पार या अतिक्रमण कर लेती हैं, वे सब अन्तर्राश्ट्रीय हैं।

भारतवंषी लोग जहाँ भी गए वहाँ वे अपनी भाशा भी लेकर गए। मारिषस, फिजी, सूरीनाम, गयाना, त्रिनिदाद, टोयेगा, दक्षिण अफ्रिका आदि अनेक देषों में भारतीय लोग 19वीं सदी में भेजे गए थे। न केवल वे हिन्दी का व्यवहार करते हैं वरन् हिन्दी साहित्य सृजन भी कर रहे हैं। विगत एक गणना के अनुसार सड़शठ करोड़ बाइस लाख इकतालीस हजार नौ सौ दस (67,22,41,910) लोग हिन्दी बोलते हैं। भारत में कुल आबादी का 73.3 लोग हिन्दी बोलते हैं। भारत जनगणना आयुक्त की रपट के अनुसार ''हिन्दी सिर्फ एक भाशा नहीं है छियालीस (46) बोलियों का परिवार है।'' इसका आषय यह है कि हिन्दी इन छियालीस (46) बोलियों में बोली जाती है। अपने उत्पाद को बेचने के लिए बहुराश्ट्रीय कम्पनियाँ हिन्दी में विज्ञापन करती हैं। विज्ञापन की भाशा से हिन्दी की षक्ति प्रकट होती है। हिन्दी का विष्व के 22 देषों में लगभग अस्सी (80) करोड़ लोग प्रयोग करते है। विदेषों में 144 वि0 वि0 में हिन्दी षिक्षण व्यवस्था है। अरब राश्ट्रों में सबसे

अमीर देष कतर में हिन्दी दूसरी राश्ट्रभाशा है। अब अमेरिका निवासी डव्ल्यू. एम. जानसन द्वारा हिन्दी में लिखित एक 'भजन' पेष करना चाहता हूँ।

''कौन हरे मेरो भार तुम बिन
हे प्रभु ! पापी हूँ अपराधी
दुश्ट दुखी दुराचार
ज्ञान धर्म प्रभु दो अब मोकों
गुरु हो करो निस्तार।''

कैलिफोर्निया निवासी वेद प्रकाष बटुक की गजल

''इतनी आसानी समझाया कहाँ जाता है दिल
जब तड़पता है तो तड़पता ही चला जाता है दिल
जिसने भी नजदीक आकर प्यार का सौदा किया
उसी से चोट खाकर चूर हो जाता है दिल
आज ऐसी कयामत आ गयी है इसके लिए
मरता है जितना भी उतना ही जिए जाता है दिल।

संयुक्त राश्ट्र विष्व मानवता की गरिमा, स्वतत्रंता और समानता का पुंज है। ऐसे मंच से विष्व मंच पर हिन्दी की स्थापना के लक्ष्य का गुंजित होना ही हिन्दी सहित समस्त भारतीय भाशाओं को वैष्विक, ऐतिहासिक महत्त्व प्रदान करना है। आठवां विष्व हिन्दी सम्मेलन सम्पूर्ण राश्ट्र की भावना एवं संकल्प का प्रतिनिधित्व करता है। संयुक्त राश्ट्र में मान्यता प्राप्त छह भाशाओं में से तीन भाशाएँ– अग्रेंजी, फ्रेंच और स्पेनिष साम्राज्यवाद, उपनिवेषवाद की स्थापना व विस्तार का माध्यम रही हैं। षेश तीन भाशाएँ रूसी और चीनी ने समाजवादी क्रांन्ति को अभिव्यक्ति दी और अरबी ने इस्लामी जगत को एक नई अस्मिता प्रदान की। अतः हिन्दी को राश्ट्रसंघ में आधिकारिक प्रवेष देने का अर्थ होगा इस विष्व पंचायत द्वारा एषिया के ही एक अन्य महान देष भारत के साम्राज्यवाद, रंगभेद, नस्लभेद और सभी प्रकार की विशमता विरोधी ऐतिहासिक अभियानों को मान्यता देना तथा आधुनिक भारत की बहुलतावाद, धर्मनिर्पेक्षता, अहिंसा, षान्ति, वैष्विक समानता, लोकतंत्र जैसे मूल्यों के प्रति प्रतिबद्वता को षक्ति प्रदान करेगा। क्योंकि आज हिन्दी केवल भारत की ही नहीं बल्कि संपूर्ण दक्षिण एषिया की लगभग सम्पर्क भाशा बन चुकी है। इतना ही नहीं भारतवासियों के पूर्व औपनिवेषिक देष– मॉरिसष, फिजी, सूरी नाम, गयाना, ट्रिनिडाड– टोबैगो आदि में हिन्दी समझी और बोली जाती है।

वैष्वीकरण सारी दुनिया को बाजार में परिवर्तित करने का कार्यक्रम है। जिसकी कुंजी बहुराश्ट्रीय निगमों एवं कम्पनियों के हाथों में है। इसकी पहुँच व्यापार से लेकर जीवन के सभी क्षेत्रों में व्याप्त है। आज मीडिया इसकी गुलाम है और भाशा इसका

हथियार। वैष्वीकरण का पर्यायवाची षब्द है– भूमंडलीकरण' भूमंडलीकरण से जुड़े नये नाम हैं 'उदारीकरण' और 'निजीकरण'। इसका व्यापक प्रभाव अर्थव्यवस्था, राजनीतिक, तकनीकी, सांस्कृतिक एवं धार्मिक क्षेत्रों पर पड़ा है। इसी कारण दुनिया के सारे देष एक नये प्रकार के आपसी संबंध से बंध रहे हैं। वैष्विकरण की प्रमुख प्रवृत्ति यह है कि इसके नारे व वादे बहुत आकर्शक एवं मुलायम हैं। वस्तुतः वैष्विकरण 'चक्रव्यूह' जैसा है, जिसमें फँसने पर मुक्ति असंभव है। गुजरात में भूकंप के चपेट में फँसी नन्हीं बच्चियों की लाषें दिखाई जा रही थीं जो दिल को हुम–हुम करने वाली तस्वीरें और खबर थी। किन्तु इसी बीच एक 'छोटा–सा ब्रेक' कहकर किसी अर्धनग्न नायिका को साबुन के विज्ञापन में दिखाया जा रहा था। अतः ऐसा लगता है खबरों से ज्यादा मीडिया विज्ञापन को उठा रही थी।

विज्ञापन की भाषा कभी षुद्ध साहित्यिक हिन्दी होती है तो कभी वैष्वीकृत समाज की बोलचाल की हिन्दी। आज हम पूरे गर्व के साथ कह सकते हैं कि वैष्विक स्तर पर हिन्दी को मान्यता प्राप्त हो रही है। मूलतः हिन्दी एक ऐसी भाषा है जिसमें पूरा राश्ट्र प्रतिबिंबित होता है और यह प्रतिबंब ही उसे राश्ट्रभाशा का रूप देता है न कि कोई संविध ाान। भारत में बेब लीला हिन्दी नाम से ऐसा मल्टीमीडिया वेब पाठ्यक्रम विकसित किया गया है, जिसमें ई षिक्षण के सभी विकसित फीचर मौजूद हैं। इस पाठ्यक्रम की षिक्षा सामग्री का निर्माण प्रो0 सूरज भान सिंह द्वारा किया गया है और इसका तकनीकी निर्देषन सी–डैक के तकनीकी विषेशज्ञ डॉ0 हेमन्त परबारी ने किया है।

वेब पाठ्यक्रम के अन्तर्गत संचार साधनों के रूप में इंटरनेट, ई– मेल, चर्चा बुलेटिन बोर्ड, चेट रूम आदि का प्रयोग होता है। वीडियोग्राफिक, एनीमेषन जैसे मल्टीमीडिया साधनों के उपयोग से वेब पाठ्यक्रमों को अधिक रोचक और आकर्शक बनाया जा सकता है। इसमें पात्रों की अपनी रुचि एवं गति के आधार पर अध्ययन संभव होता है। एक अन्य कार्यक्रम वर्ड चैम्प ;ूवता बींउचद्ध हिन्दी भाशा षिक्षण का अच्छा आधार प्रस्तुत करता है। कला विवरण ;बसंउ कमजंपसेद्ध में अग्रेंजी और हिन्दी–द्विभाशी माध्यम द्वारा भाशा षिक्षण की सुविधा भी है।

वस्तुतः सूचना प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में नित नवीन क्रान्ति के फलस्वरूप भाशा–षिक्षण और भाशा– अधिगम को नया रूप मिला है, जिसमे ई–लर्निंग के माध्यम द्वारा सी.डी.पैकेज, वेब आधारित पाठ्यक्रम और वर्चुअल क्लासरूम की प्रमुख भूमिका है। वेब पाठ्यक्रम मूलतः दूरस्थ ;कपेजंदजद्ध षिक्षण कार्यक्रम है। इसमें भौगोलिक सीमाएं नहीं होती हैं। वैज्ञानिक विकास के कारण आयी सूचना क्रांन्ति ने न सिर्फ मीडिया के क्षेत्र को प्रभावित किया बल्कि मीडिया की परिभाशा भी बदल दी है। वैष्वीकरण के चलते मीडिया की कई नई दिषाएँ एवं नए आयाम विकसित हुए हैं।

विष्व के अमेरिका, ब्रिटेन, जर्मनी, फ्रांस, स्वीडन, हंगरी, इटली, पोलैंड, रूस, चीन, कनाडा, श्रीलंका, मॉरीषस, अर्जेन्टीना, आस्ट्रेलिया, बुल्गारिया, बांग्लादेष, बैलारुस, बेल्जियम, चेकगणराज्य, क्रोएषिया, कनाडा, डेनमार्क, दक्षिण अफ्रीका, फिनलैंड, इजराइल, हांगकाग, ईरान, जांबिया, जापान, कुवैत, मिस्र सहित साठ से अधिक देषों में और एक सौ से अधिक विष्वविद्यालयों में हिन्दी का पठन–पाठन किया जाता है। निजी क्षेत्रों में भी हिन्दी कोचिंग सेंटर चलाए जा रहे हैं। यह स्थिति वास्तव में हिन्दी की बहुराश्ट्रीय व बहुक्षेत्रीय उपयोगिता दर्षाती है। हिन्दी फिल्मों का अनुवाद दुनिया की सभी प्रमुख भाशाओं में किया जा रहा है और इसकी लोकप्रियता बढ़ती जा रही है। अब हिन्दी के मनोरंजन एवं समाचार चैनलों की लोकप्रियता निर्विवाद रूप से हो चुकी है। इक्कीसवीं सदी में हिन्दी का भविश्य उज्ज्वल है।

कमइ

अधिगमशील समाज हेतु शिक्षक सशक्तीकरण

सुश्री आरती श्रीवास्तव

एसोसिएट प्रो०, बी0एड0 विभाग, आर्य महिला पी0जी0 कालेज, चेतगंज, वाराणसी

शिक्षक सशक्तीकरण पर विचार करने से पूर्व हमें शिक्षा क्या है और क्यों यह मानव मात्र के लिए आवश्यक है तथा शिक्षा प्रदान कने वाले के कन्धों पर कितना बड़ा दायित्व है, इन बिन्दुओं पर प्रकाश डालना चाहिए।

अन्नदानात्परं दानं विद्यादानमतः परम्।

अन्नेन क्षणिका तृप्तिर्यावज्जीवं च विद्यया।।

उपर्लिखित श्लोक में शिक्षा के अनन्त मूल्य पर प्रकाश डाला गया है अर्थात् शिक्षा प्रदान करना भोजन प्रदान करने से बढ़कर है क्योंकि भोजन से प्राप्त संतोष क्षणिक है जबकि जो संतोष शिक्षा से प्राप्त होता है वह जीवन पर्यन्त रहता है।

यह तुलना भोजन के महत्व को कम नहीं करती है बल्कि इस ओर संकेत करती है कि ज्ञान प्रदान करने वाला कुछ खोता नहीं, लेकिन ज्ञान प्राप्त करने वाला चिरकाल तक बना रहने वाला लाभ पाता है, और समाज की सम्पदा बन जाता है।

प्राचीन भारतीय चिन्तकों ने भी शिक्षा के अधिकार के लिए अपना अमूल्य योगदान किया, यह योगदान 'गुरुकुल प्रणाली' के रुप में किया गया जिसके अन्तर्गत केवल ज्ञान ही नहीं, नैतिक शिक्षा भी प्रदान की जाती थी। शिक्षक का उच्च नैतिक चरित्र विद्यार्थियों पर अमिट प्रभाव डालता था। इसीलिए तैतिरीय उपनिषद् के शिक्षा सम्बन्धी अध्याय 'शिक्षावल्ली' में प्रत्येक विद्यार्थी से कहा गया कि वे अपने गुरु को भगवान के समान समझें। इसके अतिरिक्त अध्ययन प्रारम्भ करते समय विद्यार्थियों को निम्नलिखित श्लोक गाने के लिए कहा जाता था जिसमें गुरु की स्तुति की गयी है–

गुरुर्बह्मा गुरुर्विष्णु गुरुर्देवो महेश्वरः।

गुरुः साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नमः।।

इस प्रकार का उच्च सम्मान व महत्व जो गुरु को दिया गया है, इस बात का सूचक है कि गुरु का दायित्व कितना भारी है, उसे विद्यार्थी को उसकी क्षमता के अनुरुप सर्वोच्च सफलता की ओर अग्रसर करना है।

देश अथवा समाज के सुख व समृद्धि का अनुमान वहाँ के शिक्षित व्यक्तियों के प्रतिशत से लगाया जा सकता है। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं कि शिक्षा प्रदान करने

का दायित्व त्यागी व्यक्तियों को देना चाहिए जो अपने व्यक्तिग स्वार्थ से ऊपर उठकर कार्य करते हैं, वे समुदाय, समाज तथा देश के गौरव के लिए प्रयास करते हैं। स्वामी विवेकानन्द ने 'इण्डिया एण्ड हर प्रॉब्लेम्स' में शिक्षक के स्वरूप पर अपने विचार प्रकट किए हैं –

''मेरे विचार में शिक्षा 'गुरुगृहवास' हैं। शिक्षक के व्यक्तिगत जीवन के अभाव में कोई शिक्षा संभव नहीं है। व्यक्ति को बचपन से ऐसे किसी के साथ रहना चाहिए जिसका चरित्र जलती हुई अग्नि के समान हो, और जो उच्चतम शिक्षण का ज्वलन्त उदाहरण उनके सामने रख सके। हमारे देश में ज्ञान प्रदान करने का कार्य सदा से ऐसे व्यक्तियों द्वारा सम्भाला गया जो त्यागी तथा सन्यासी थे। पुनः ज्ञान प्रदान करने का कार्य त्यागियों के कन्धों पर होना चाहिए। शिक्षक को किसी दूरगामी स्वार्थ, उद्देश्य, धन अथवा यश के लिए नहीं पढ़ाना चाहिए, उसका कार्य–सीधे प्रेमवश होना चाहिए, शुद्ध प्रेम जो वृहत् मानवता के लिए हो।''

स्वामी विवेकानन्द जैसे महान् व्यक्तित्व द्वारा इस ओर संकेत किया गया है कि शिक्षक को निःस्वार्थ भाव से शिक्षण कार्य करना चाहिए तभी वह उनके हित, अधिकार व कल्याण के लिए कार्य कर सकता है जिनके लिए वह नियुक्त है। उसे विद्यार्थियों में अच्छी आदतों का विकास करना चाहिए तथा उनके दोषों को दूर करना चाहिए। जैसा कि आदि शंकराचार्य कहते हैं – संस्कारो हि नाम गुणाधनेन वा स्याद् दोषापनयनेन वा।

दार्शनिकों, विचारकों, शिक्षाशास्त्रियों तथा समाज सुधारकों द्वारा शिक्षा के उद्देश्य निर्धारित किए जाते हैं और शिक्षक का यह पवित्र कर्तव्य होता है कि वह इन उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए शिक्षण कार्य करें जिससे देश में ऐसे व्यक्तियों की संख्या बढ़े जो अच्छे चरित्र वाले हैं, विद्वान हैं, दृढ़ संकल्प है और नैतिक एवं शारीरिक दृष्टि से योग्य हैं। तभी समाज व देश में सुख शान्ति व समृद्धि आ सकती है। इतना बड़ा दायित्व सशक्त शिक्षकों के कंधो पर ही दिया जाना चाहिए।

सशक्त शिक्षक कौन है ? महाकवि कालिदास ने कहा है –

श्लिष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसंस्था संक्रान्तिरन्यस्य विशेषयुक्ता।

यस्योभयम् साधु स शिक्षकाणाम् धुरि प्रतिष्ठापयितव्य एव।।

(अर्थात् किसी का ज्ञान आत्मकेन्द्रित होता है और दूसरे का, दूसरों तक ज्ञान पहुंचाने की विशेषता से युक्त होता है, जिसमें ये दोनों गुण होते हैं वही शिक्षकों में श्रेष्ठ है और प्रतिष्ठा का आधार है।)

कालिदास के अनुसार सशक्त शिक्षक वह है जो विषय पर पूर्ण अधिकार रखत हो तथा विषय वस्तु को विद्यार्थियों तक संप्रेषित करने का कौशल रखता हो। शिक्षण और अधिगम के लिए संप्रेषण एक आधारभूत आवश्यकता है। संप्रेषण होने पर विद्यार्थी एक

वांछित अनुक्रिया करके अपने अधिगम की पुष्टि करते हैं। अतः शिक्षक को संप्रेषण प्रक्रिया के वैज्ञानिक स्वरूप को समझना होगा। संप्रेषण एक द्विमार्गी प्रक्रिया है, जिसके 4 प्रमुख घटक हैं – संप्रेषणकर्ता (Sender), संदेश (Message), माध्यम (Medium) एवं प्राप्तकर्ता (Receiver)।

संप्रेषणकर्ता के रुप में शिक्षक, विषय–वस्तु में निहित संदेश को किसी माध्यम जैसे भाषा एवं दूसरे साधनों (श्रव्य–दृश्य सामग्री) का प्रयोग करके प्राप्तकर्ता अर्थात् शिक्षार्थी तक पहुंचाता है। संप्रेषण की पुष्टि के लिए स्वयं प्राप्तकर्ता अर्थात् शिक्षार्थी संदेश का विवेचन करके अपना प्रतिसंदेश (Counter-message) किसी माध्यम, सामान्यतः भाषा का प्रयोग करके, भेजने वाले (शिक्षक) तक पहुंचाता है। इसी को संप्रेषण चक्र कहते

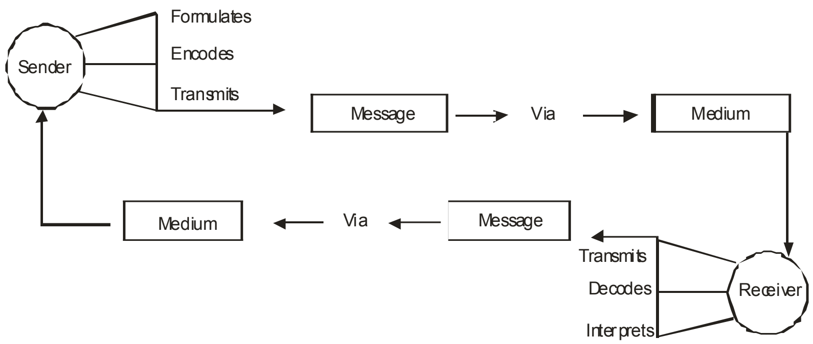

हैं –

शिक्षक को सशक्त बनाने के लिए उसे Information Communication Technology (ICT) का ज्ञान भी प्रदान करना होगा। आज आधुनिकी तकनीकी के युग में कम्प्यूटर, इन्टरनेट, पावर प्वाइन्ट प्रेजेन्टेशन एवं अन्य इलेक्ट्रानिक मीडिया का प्रयोग करना एक बहुत बड़ी धुन है। शिक्षक को इन माध्यमों का प्रयोग शिक्षण– अधिगम के लिए करना चाहिए, तभी वह सशक्त एवं प्रभावशाली हो सकता है।

पहले यह धारणा थी कि शिक्षक जन्मजात होते हैं यह गलत नहीं है, क्योंकि कुछ लोग शिक्षक के पद पर न होते हुए भी प्रभावशाली शिक्षण कर लेते हैं, किन्तु अब आधुनिक धारणा के अनुसार उन्हें भी शिक्षक बनया जा सकता है, जिनमें जन्म से यह क्षमता नहीं होती। प्रशिक्षण महाविद्यालयों की बढ़ती हुई संख्या भी इसी बात की पुष्टि करती है। जिन्होनें ज्ञानार्जन किया है तथा शिक्षण कार्य करने के इच्छुक हैं वे इस प्रशिक्षण महाविद्यालयों में शिक्षण का प्रशिक्षण प्राप्त करके शिक्षक बन सकते हैं। ये प्रशिक्षण महाविद्यालय बड़ी संख्या में शिक्षकों को तैयार करके जनसंख्या विस्फोट के कारण, भारी संख्या में विद्यार्थियों को शिक्षित करने की चुनौती का सामना करने में देश की मदद कर सकते हैं। शिक्षक प्रभावशाली व सशक्त होंगे या दुर्बल, यह कुछ सीमा तक इन प्रशिक्षण

महाविद्यालयों पर निर्भर करता है क्योंकि ये ही वे स्थान हैं जहां उन्हें यह सिखाया जाता है कि किस प्रकार अपने अर्जित ज्ञान को प्रभावशाली ढंग से छात्र–छात्राओं को प्रदान करें। इस दृष्टि से शिक्षक सशक्तीकरण का दायितव शिक्षक–प्रशिक्षकों पर है। ये शिक्षक–प्रशिक्षक ही छात्राध्यापकों को शिक्षण की युक्तियाँ, कौशल तथा विधियों का अभ्यास करवाते हैं। पाठ की प्रकृति के अनुरूप शिक्षण युक्तियों, विधियों तथा कौशलों का चयन करना सिखाते हैं तथा प्रतिपुष्टि के माध्यम से छात्राध्यापकों को शिक्षण कौशलों में दक्षता प्राप्त करवाते हैं। शिक्षक–प्रशिक्षक जितनी गम्भीरता व ईमानदारी से अपना कर्तव्य करते हैं। उतने ही सशक्त शिक्षक वे तैयार कर सकते हैं। आदर्श और सशक्त शिक्षण का प्रदर्शन शिक्षक–प्रशिक्षक ही करते हैं जो छात्राध्यापकों के लिए शिक्षण अभ्यास का आधार बनता हैं।

शिक्षण अभ्यास के दौरान छात्राध्यापकों की कक्षाओं में नियमित रूप से आकर उनके दोषों को दूर करके इनके शिक्षण कार्य को प्रभावशाली बनाने के लिए सुझाव देना शिक्षक–प्रशिक्षक का कार्य है।

ऐसा नहीं है कि केवल शिक्षक–प्रशिक्षक की ही पूरी जिम्मेदारी है, सशक्त शिक्षक बनने के लिए छात्राध्यापक को भी प्रशिक्षण की अवधि का पूरा–पूरा सदुपयोग करना चाहिए, शिक्षण जैसे महत्वपूर्ण कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिए उन्हें परिश्रम करना चाहिए। प्रतिदिन के कक्षा–शिक्षण तथा अपने पर्यवेक्षकों के सुझावों को ध्यान में रखते हुए उन्हें अपने शिक्षण नियोजन, शिक्षण–अधिगम प्रक्रिया तथा मूल्यांकन विधियों में परिवर्तन करना चाहिए। जिससे वास्तविक शिक्षक बनने के उपरान्त उन्हें प्रशिक्षण महाविद्यालय से प्राप्त अनुभव, सफल तथा प्रभावशाली शिक्षक बनने में मदद करें। भावी शिक्षकों के लिए प्रशिक्षण महाविद्यालय प्रयोगशाला अवस्था है जहां वे करके सीखते हैं और यही अनुभव उन्हें जीवन पर्यन्त अपने शिक्षण व्यवसाय में उत्थान तथा प्रगति के लिए मदद करते हैं।

यदि हम स्वामी विवेकानन्द के गुरु गृहवास के विचार पर ध्यान दें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस प्रकार शैक्षिक पाठ्यक्रमों के लिए गुरु का सान्निध्य महत्वपूर्ण है उसी प्रकार शिक्षण जैसे व्यवसाय के लिए भी छात्राध्यापकों के शिक्षक अर्थात् शिक्षक–प्रशिक्षकों को भी उन्हें पर्याप्त समय देना चाहिए। उनकी थोड़ी भी ढिलाई लापरवाह शिक्षकों को जन्म देगी।

शिक्षक–प्रशिक्षकों को भी इसलिए ऐसे अवसर मिलने चाहिए जिससे उनकी योग्यताओं में वृद्धि हो सके। ये अवसर है –

1. गोष्ठियों, कार्यशालाओं तथा विचार–विमर्श के लिए सुविधाएँ प्रदान करना।
2. शिक्षा तथा शिक्षक शिक्षा के विभन्न पक्षों पर शोध तथा सृजनात्मक चिन्तन की सुविधाएँ।

3. विद्यालयी शिक्षा तथा शिक्षक–शिक्षा से सम्बन्धित विभिन्न प्रकार की सामग्री तथा विचारों के प्रकाशन की सुविधा।

4. अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क को बढ़ावा देना।

इस प्रकार शिक्षक सशक्तीकरण हेतु सृजनशील शिक्षक–प्रशिक्षकों को तैयार करना भी आवश्यक है क्योंकि नौकरी से पूर्व शिक्षक–प्रशिक्षण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा आवश्यक शिक्षा की पृष्ठभूमि के साथ प्रवेश लेने वाले अप्रशिक्षित विद्यार्थी सक्षम तथा वचनबद्ध व्यावसायिक शिक्षक के रूप में परिणत हो जाता है। शिक्षकों का व्यावसायिक निष्पादन अच्छा हो, इसके लिए National Council of Teacher Education (NCTE) ने जो योग्यताएं तथा वचनबद्धताएं निर्धारित की है, उनमें से मुख्य योग्यताएँ हैं –

1. विषय वस्तु सम्बन्धी योग्यता
2. छात्र के साथ अन्तःक्रिया करने की योग्यता
3. दूसरी शैक्षिक क्रियाओं से सम्बन्धित योग्यता जो ज्ञानात्मक क्षेत्र की नहीं है जैसे–स्वतन्त्रता दिवस, गणतन्त्र दिवस, महापुरूषों के जन्मदिवस, सरस्वती पूजा, जन्माष्टमी इत्यादि कार्यक्रमों का आयोजन जिससे विद्यार्थियों में सामाजिक सांस्कृतिक एवं मानवीय मूल्यों का विकास हो सके।
4. शिक्षण अधिगम सामग्री विकसित करने की योग्यता, जिससे शिक्षण को रोचक और ग्राह्य बनाया जा सकता है।
5. मूल्यांकन योग्यता।
6. प्रबन्ध योग्यता।
7. माता–पिता, समुदाय तथा दूसरी एजेन्सीज के साथ कार्य करने की योग्यता।

योग्यताओं के साथ वे क्षेत्र जो कि शिक्षक की वचन–बद्धता से सम्बन्धित है वे इस प्रकार है –

1. अधिगमकर्ता के प्रति वचनबद्धता,
2. समाज के प्रति वचनबद्धता,
3. व्यवसाय के प्रति वचनबद्धता
4. व्यावसायिक कार्यों में निपुणता प्राप्त करने के लिए वचनबद्धता,
5. आधारभूत मूल्यों के प्रति वचनबद्धता।

सेवा पूर्ण प्रशिक्षण की अवधि में छात्राध्यापकों को प्रथम बार इन योग्यताओं एवं वचनबद्धताओं के विषय में बताया जाता है और अभ्यास कराया जाता है, जो भविष्य में उनके जीवन पर्यन्त के शिक्षण व्यवसाय में, उनके सशक्तीकरण में सहायक होता है।

सेवारत शिक्षकों को स्वयं भी अपनी आवश्यकताओं, रूचियों तथा विशिष्ट व्यावसायिक दायित्वों के अनुसार अपनी व्यावसायिक प्रगति के लिए पुस्तकों, जर्नल,

श्रव्य–दृश्य साधनों तथा दूसरे स्थानीय, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्रोतों का प्रयोग अपने आजीवन अधिगम के लिए करना चाहिए।

प्राचीन भारतीय समाज में गुरु को एक निर्णायक भूमिका प्राप्त थी, क्योंकि गुरु, ज्ञान में श्रेष्ठ, विलक्षण, दूरदर्शी एवं स्वार्थ से परे होने के कारण किसी भी समस्या में समाज के लिये सर्वोच्च हितकारी दिशा निर्देश देने में समर्थ था। आज का शिक्षक अपनी यह प्रतिष्ठित भूमिका खो चला है–कारण उनमें कालजयी प्रज्ञा का अभाव। राष्ट्र की श्रेष्ठ मेधाएं आज समाज के भौतिक संसाधन जुटाने में निविष्ट है–और मानवीय संसाधन, जो किसी भी समाज का मेरूदण्ड है, उसके निर्माण में ऐसे लोग जुटे हैं जो ज्ञान व दूरदर्शिता मे ंअपरिणत हैं एवं समर्पण में अपूर्ण। सशक्त, शिक्षक–समाज के पुनर्गठन के लिए शिक्षण कार्य में श्रेष्ठ मेधाओं का समावेशन आवश्यक है। उन्हें शिक्षण कार्य के प्रति अभिप्रेरित तथा पुनर्दिशित करना होगा। इसके अतिरिक्त शिक्षक–प्रशिक्षण के लिए व्यक्तियों के चयन–प्रणाली में, उनके विषय ज्ञान की एक न्यूनतम सीमा आवश्यक रूप से निर्धारित होनी चाहिए– न कि एक न्यूनतम डिग्री।

सारांश में शिक्षक सशक्तीकरण के लिए प्रशिक्षण–विद्यालय, शिक्षक प्रशिक्षक एवं शिक्षकों के अपने प्रयास आवश्यक हैं।

सन्दर्भ सूची –

1. Competence based and commitment oriented teacher education for quality school of education, NCTE document 98/21, 1948
2. Human Rights and Indian values NCTE document 97/15, revised edition, 1998, chapter V P. 26, 28
3. Kalidas, 'Malvikagnimitram' 1/16
4. Sampath, K. et. al., Introduction to Educational Technology, III Revised Edition, 1990, P.44
5. Some specific Issues and Concerns of Teacher Education, NCTE document, 2004/77.

श्री अरविन्द के चिन्तन के आलोक में मानवता का भविष्य

डॉ० मधु सिंह

एसोसिएट प्रो० हिन्दी विभाग, उदय प्रताप स्वायत्तशासी कालेज, वाराणसी

श्री अरविन्द महायोगी और दार्शनिक हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ से लेकर अब तक अनेक आन्दोलनों तथा धार्मिक प्रवृत्तियों ने भारत के विचारों में प्रभुत्व जमाए रखा, लेकिन उन सभी में रहस्यवादी दृष्टि तथा रचनात्मक संश्लेषण का अभाव है, जिसे हम श्री अरविन्द के दर्शन में पाते हैं। सहज बौद्धिक एवं दार्शनिक विचारों की सहज अभिव्यक्ति का अभाव है, जिसे हम श्री अरविन्द के दर्शन में पाते है। सहज बौद्धिक एवं रहस्यवादी दृष्टि श्री अरविन्द की महान कृति 'द लाइफ डिवाइन' में अपूर्व ढंग से समन्वित है। डॉ0 एस. राधाकृष्णनन कहते हैं – वर्तमान समय में भारतीय विचारकों में श्री अरविन्द सबसे अधिक पूर्ण हैं। दर्शन के मूल तत्वों पर उनकी दृढ़ तथा गहरी पकड़, आभ्यन्तरिक जीवन की अभिवृद्धि के लिए उनका अथक प्रयासों और मानवता एवं उसके भविष्य के लिए उनका अतिशय प्रेम उनकी रचनाओं की गहराई तथा व्यापकता प्रदान करता है जो अत्यन्त दुर्लभ है।[1]

श्री अरविन्द का उद्देश्य आज की मनुष्यता के सम्मुख उत्पन्न समस्याओं का समाधान ढूंढना नहीं था। वे अद्वितीय कोटि के दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक थे। उन्होंने मनुष्य के अस्तित्व के आधुनिक संकट के मूल कारणों के अन्वेषण का प्रयत्न किया और इसी प्रक्रिया में उन्होंने विकासशील मनुष्य की अवधारणा की तथा उसकी भविष्यत् क्षमताओं की उपलब्धि की।

''आग्नेय सन्देशवाहक जो दिव्य प्रदीप लेकर आया है' मुझे आशा के अमर वैभव से प्रतिध्वनित आत्मा का महान और उल्लासपूर्ण गीत सुनाई पड़ा।[2] टैगोर ने इन शब्दों में अपनी एक सुन्दर कविता में अरविन्द की प्रशंसा की है। यह प्रशंसा सर्वथा उपयुक्त है क्योंकि श्री अरविन्द के उपदेशों का हमारे ऊपर स्थायी प्रभाव प्रकाशमयता और आशावादिता का ही पड़ता है। हमारे युग के किसी चिन्तक ने मानव जाति के भविष्य पर इतने विश्वास के साथ ध्यान नहीं दिया और उस भविष्य की इतनी तेजोमय रूप में कल्पना की है।

1912 में ही श्री अरविन्द ने अपने आदेशों को इस प्रकार प्रस्तुत किया था –''मानव जाति की एकता आन्तरिक एकत्व द्वारा, केवल हितों के आधार पर वाह्य सम्बन्धों द्वारा ही नहीं केवल पशुवत अथवा आर्थिक अथवा केवल बौद्धिक और सौन्दर्यात्मक जीवन में से आध्यात्मिक जीवन के गौरव तक मनुष्य अपने मानवत्व को सच्चे अति मानवत्व

में विकसित कर सके। यह अति मानवत्व हमारी वर्तमान अवस्था से उसी प्रकार आगे होगा जिस प्रकार वर्तमान अवस्था पशु अवस्था से आगे है जिसमें से विज्ञान के अनुसार हम निकलकर आये हैं। ये तीनों वास्तव में एक ही है, क्योंकि मनुष्य की एकता और मनुष्य की आत्मोपरिता केवल आत्मा में जीने के द्वारा ही प्राप्त हो सकती है।[3]

श्री अरविन्द के दर्शन का उद्‌देश्य विकास के पाश्चात्य और पौर्वात्य सिद्धान्तों को मिलाना है। श्री अरविन्द के विकास सिद्धान्त को मूलभूत विशेषताओं को बताते हुए एक लेखक ने कहा है– ''विकास संयोग अध्यक्षता में चलने वाला पदार्थ और गति का कोई अधिकाधिक जटित होता हुआ, संस्मरण–मात्र नहीं है। न ही वह असंख्य वर्षों पहले गढ़ी गई श्रृंखला की खड़खड़ है जो किसी अति ब्रह्माण्डीय दिव्य मन की अध्यक्षता में हो रही है और न वह शून्य में से अचानक ही नये गुणों और श्रेष्ठतर मूल्यों का क्रमशः प्रकटन ही है। विकास की प्रक्रिया मूलतः अतिधारणीय सत्ता का असीम रूप में विविधीकृत आत्मनिर्धारण हैं विकास अवचेतना के अपरिचित समुद्र में विश्व आत्मा की सृजनात्मक साहसिक यात्रा है ताकि सत्ता में निहित सम्भावनायें भौतिक परिस्थितियों में अनन्त अभिव्यक्ति पा सके।[4] स्वयं अरविन्द ने अपने सिद्धान्त का विशिष्ट स्वस्थ यह कहकर समझाया है कि विकास का त्रिविध रूप है। वह विस्तारण है, ऊर्ध्वीकरण है और समग्रीकरण है।

विस्तारण से अभिप्राय है विभेदीकरण, संगठन, अभिव्यक्ति की विविधता, अनुकूलन। जब शरीर संगठित, सूक्ष्म और जटित हो जाता है तो मन प्रकट होता है। इसी भांति जब जीव शरीर अधिकाधिक जटिल हो जाता है तो मन प्रकट होता पर इसके साथ ही साथ उर्ध्वीकरण भी चलता रहता है – रूपायन के स्तर में चेतना की शक्ति का अधिकाधिक ऊर्ध्व होते जाना। इस प्रकार ऊर्ध्वीकरण का अर्थ फैलाव या विस्तार नहीं बल्कि एक से दूसरे स्तर पर आरोहण है। पर श्री अरविन्द के लिए सबसे महत्वपूर्ण विशेषता है उसकी अखण्डता। जब निम्न उठकर उच्च बनता है तो इससे उसका अस्तित्व नहीं मिट पाता। इसके विपरीत वह उच्चतर में उठकर अनुप्राणित और संस्कारित होता है। जड़ पदार्थ से जीवन प्रकट पर पदार्थ नष्ट नहीं हो जाता है और न मन के प्रकट होने पर जीवन ही नष्ट होता है।

श्री अरविन्द कहते हैं –''दिव्य अथवा अध्यात्मिक जीवन न केवल मानसिक, जैविक और शारीरिक जीवन को अपने भीतर रूपान्तरित और आध्यात्मीकृत कर लेगा बल्कि अपने धरातल पर जीवित रहने में जितना सुलभ था उससे कहीं अधिक विस्तृत और सम्पूर्णतर अवकाश देगा। हमारे आत्म विस्तार से हमारे मानसिक, शारीरिक और जैविक अस्तित्व का नष्ट होना आवश्यक नही और न आध्यात्मीकरण से वे क्षीण या क्षत–विक्षत होते हैं। वे अधिक समृद्ध, अधिक महानतर, अधिक सशक्त और अधिक सम्पूर्ण हो सकते हैं और होते भी हैं – अपने दिव्य परिवर्तन मे वे ऐसी सम्भावनाओं में पहुँच जाते है, जो उनको अनाध्यात्मीकृत अवस्था में व्यावहारिक अथवा कल्पना सम्भव नही हो सकती थी।[5]

उन्होंने स्वीकार किया है कि विकास की दो सारणियां मानी जा सकती हैं। प्राचीन विकासवादी धारणा अन्तः सम्बोधि ज्ञान की देन थी, जबकि आधुनिक विकासवादी धारणा–वैज्ञानिक परीक्षण और निरीक्षण की देन थी। प्रत्येक पद्धति में आज वे जिस रूप में उद्‌घोषित की जाती हैं, कुछ न कुछ छूट जाता है। फिर भी प्राचीन विचारधारा विकासवादी प्रक्रिया की अन्तरात्मा की पकड़ थी, जबकि आधुनिक विचारधारा कलेवर और आकार के वाह्य मशीनी रूप को पकड़ पाती है। वे वैज्ञानिक विचारधारा का संक्षेपीकरण करते हुए कहते हैं–''वैज्ञानिक यह मानकर संतुष्ट हो जाता है कि मूल वस्तु या पदार्थ, आणविक, वैद्युतिक, ईथरिक या चाहे जो भी नाम दे लें, या अन्त में यह जैसा साबित हो अपने अन्तर्भूत के कारण यह शक्ति इसके भीतर हो या बाहर से कार्य कर रही हो, यद्यपि दोनों एक ही चीजें नहीं हैं, यद्यपि यह अन्तर शुरू में वाहियात जैसा लग सकता है, पर वह दूरगामी परिणाम उत्पन्न करने वाला है। कुछ अव्याख्येय कारणों से निश्चित पद्धति में परिणामों को जन्म देता है।[6]

विकास पदार्थ से शुरू होता है, क्योंकि पदार्थ के स्तर तक उतरने के बाद चैतन्य अनुभव करता है कि आवरण अथवा प्रच्छन्नता की प्रक्रिया चरम सीमा तक पहुँच चुकी है। स्वयं चैतन्य ही, जो अब पदार्थ का बन्दी बन चुका है, पदार्थ को ऊर्ध्व संचरण के लिए बाध्य करता है –''इस तनाव से एक प्रकार से पदार्थ के हृदय में अग्नि की सृष्टि होती है, वस्तु के सारभाग में प्रबल दहन और आवर्त की सृष्टि होती है। इस सब दबाव ताप, संघटन और विस्फोट का अर्थ है जो कुछ गर्भस्थ है, उसको जन्म देने के लिए प्रबल संघर्ष।[7] और इस प्रकार जीवन का उदय होता है। जीवन जड़ पदार्थ में चैतन्य के प्रथम अंकुर का सूचक है। वनस्पति जगत में उसकी अभिव्यक्ति प्रारम्भिक है। चैतन्य अपनी अभिव्यक्ति से स्वयं ही असंतुष्ट होकर पशु धरातल पर उठता है जहां वह अधिक स्वतंत्र और सुघट्‌य हो जाता है। अब वह ऐसे प्राणी में शरीरस्थ है जो संवेग और संवेदना से युक्त है। इस अवस्था में प्राणवान पदार्थ में 'मानसिकता' की क्रीड़ा दिखाई पड़ने लगी है। परन्तु चैतन्य अब भी संतुष्ट है। वह और भी ऊपर आरोहण करता है और ऐसे मन अथवा बुद्धि के रूप और भी अधिक सम्पूर्ण अभिव्यक्ति प्राप्त करता है जिसमें स्वचेतना, भेदाभेद तथा विश्लेषण की क्षमता मौजूद है। अभी तक विकास केवल इसी अवस्था में पहुंच पाया है। पर यह मानने का कोई कारण नहीं कि वह यहीं रुक जाएगा। श्री अरविन्द का विश्वास है कि विकास का अगला चरण अनिवार्य रूप से अतिमन के धरातल पर आरोहण का ही होगा।

रूपान्तरण के तीन पक्षों को श्री अरविन्द 'आत्मिक परिवर्तन, आध्यात्मिक परिवर्तन और मानसोपरि परिवर्तन कहते हैं।

आत्मिक परिवर्तन हमारे मानस या आत्मा को छिपाये रखने वाले परदे के हटने को कहते हैं। श्री अरविन्द आत्मा को ''वस्तुओं में दिव्यत्व की नित्य शुद्ध रहना ही पर्याप्त नहीं, यह भी आवश्यक है कि आत्मा का प्रकाश हमारे समस्त अस्तित्व प्रवाहित हो और

हमारे भीतर के जीवन, मन और पदार्थ में परिव्याप्त हो जाये। आत्मिक परिवर्तन द्वारा यही काम पूरा होता है। इस संदर्भ में श्री अरविन्द आवेगों के शिक्षण को बहुत महत्व देते हैं, क्योंकि योग ऐसी ही शिक्षा है जो हमारे भीतर स्थित आत्मा को जाग्रत करती है।

आत्मिक सत्ता का आरोहण कभी–कभी हमें असीम की झाँकी दिखा देता है, लेकिन यह क्षणिक ही होता है। आध्यात्मिक परिवर्तन द्वारा हमें असीम का स्थायी भाव होने लगता है, हमारे स्वभाव का विस्तार होता है, अमरता हमारे लिए एक सामान्य आत्म–अभिज्ञता हो जाती है। ''दिव्य सत्ता की घनिष्ठ समीपता, उसका जगत के ऊपर, हमारे ऊपर और प्राकृतिक तत्वों के ऊपर शासन, हमारे भीतर और हर जगह सक्रिय उसकी शक्ति असीम की शान्ति और उसका आनन्द ये सब अब हमारे भीतर मूर्त और स्थायी हो जाते है, समस्त दृश्यों और रूपों में सनातन का परम सत्ता का दर्शन होता है, प्रत्येक ध्वनि में उसी का नाद सुनाई देता है। प्रत्येक स्पर्श में उसी का अनुभव होने लगता है।[8] ऐसा ही है आध्यात्मिक परिवर्तन का प्रभाव हृदय का आनन्द अथवा प्यार, समस्त अस्तित्व का आलिंगन, आत्मा की एकता सब स्थायी बन जाते हैं।

तीसरा रूपान्तरण अचेतनता से ज्ञान में संक्रमण की पूरा कर देता है। यह है मानसोपरि परिवर्तन जो हमारे अतिमन तक आरोहण तथा तदनुकूल अतिमन के हमारे भीतर अवरोहण द्वारा सम्पन्न होता है।

श्री अरविन्द के दर्शन में आध्यात्मिक ज्ञान सम्पन्न प्राणी 'शब्दावली का प्रयोग लगभग अति मानव के अर्थ में ही होता है। आध्यात्मिक ज्ञान सम्पन्न मानव का सम्पूर्ण अस्तित्व आध्यात्मिकता की शक्ति से संचालित होगा। यह आध्यात्मिकता सर्वव्यापक होगी। ''उसमें जागतिक चेतना, संवेदन, संवेग होंगे, जिससे समस्त वस्तुनिष्ठ जीवन उसके आत्मनिष्ठ अस्तित्व का अंग बन जाएगा और जिससे वह ईश्वर को सब रूपों में देख, सुन, छू सकेगा, उसका प्रत्यक्ष ज्ञान और सिद्धि प्राप्त कर सकेगा, समस्त रूप और गति इस प्रकार देखे, सुने, छूए जाने और सिद्ध किये जायेगे जैसे वे सब उसके अपने विराट स्व में घटित हो रहे हैं।[9] आध्यात्मिक ज्ञान सम्पन्न प्राणी दूसरे व्यक्तियों की चेतना की क्षमता और रीतियों को स्वयं अपने व्यक्तित्व की क्षमताओं और रीतियों की भाँति ही अनुभव करेगा। वह अपने व्यक्तिगत स्व के सम्पूर्ण संकल्प के साथ अपने व्यक्तिगत स्व के सम्पूर्ण संकल्प के साथ अपने व्यक्तिगत कर्म के सम्पूर्ण कर्म के साथ, सामजंस्य और सर्वव्यापक अभिज्ञता में कार्य करेगा। पीड़ा और दुःख अब उसको वैसे प्रभावित न कर सकेंगे जैसे वे साधारण लोगों को करते हैं। उसे एक नई शान्ति और समस्त सुख–दुःख को चरम तटस्थता से देख सकने की क्षमता प्राप्त हो जायेगी। वह अपने अस्तित्व के भौतिक आधार की सहर्ष कर सकेगा क्योंकि तब वह उसकी आध्यात्मिकता को आच्छादित न कर सकेगी।

अपनी कुछ बाद की कविताओं में श्री अरविन्द ने उस विराट विस्तार का विशद चित्र खींचा है जो मानसोपरि रूपान्तरण से, उस परिवर्तन से आएगा जिसमें प्रत्येक वस्तु

सुरक्षित रहेगी और प्रत्येक वस्तु का अतिक्रमण भी होगा –

''एक क्षणहीन सघनता शुद्ध और नंगी,
मैं हर जगह एक सनातन तक फैलता हूँ।[10]

इस प्रकार के परिवर्तन के फलस्वरूप मनुष्य कह सकेगा –

''मै वह गया जो काल के पहले था,
एक गूढ़ स्पर्श ने विचार और संवेदना को शान्त कर दिया है।
मन द्वारा रची हुई सभी वस्तुएं
एक शून्य और मूल ऐश्वर्य में संक्रमित हो गई।''[11]

इससे भी अधिक व्यंजनापूर्ण ये पंक्तियाँ हैं, जिनमें श्री अरविन्द विश्वचेतना का वर्णन करते हैं जो मानसोपरि परिवर्तन से प्रकट होगी –

''मैंने विस्तृत संसार को अपने और भी विस्तृत स्व में लपेट लिया है,
और देश तथा काल है, जिन्हें मेरी आत्मा देख रही है।
मैं दोनों हूँ देवता और राक्षस, प्रेत और पिशाच,
मैं पवन की गति और जलता सितारा दोनों हूँ।
समस्त प्रकृति मेरे पालन–पोषण में बड़ी हुई है,
मैं उसका संघर्ष हूँ और चिरन्तन विश्राम भी,
संसार का हर्ष मुझे रोमांचित करता है
मैं अपने एकाकी हृदय में करोड़ो का दुःख वहन करता हूँ
मैंने सबसे घनिष्ठ एकता प्राप्त कर ली है,
फिर भी जो कुछ होता है उससे बंधा नहीं हूँ।
अपने भीतर विश्व का आह्वान लिये हुए
मैं अपने अविनाशी गृह को चला जाता हूँ
मैं बेमाप पंखों पर काल और जीवन से परे संक्रमण करता हूँ,
फिर भी जन्मी और अजन्मी वस्तुओं से एकाकार हूँ।''[12]

श्री अरविन्द ने समाज के विकास की प्राथमिक अवस्था में प्रतीकपरक प्रवृत्ति को प्रधान बताया है। प्रतीकपरक दृष्टिकोण जो सामाजिक प्रगति के इस धरातल पर जगत सम्बन्धी धार्मिक, काल्पनिक दृष्टिकोण में मिल जाता है, मनुष्य को स्वयं अपने और प्रकृति के जीवन के पीछे एक दिव्य सत्ता की अवधारणा की ओर प्रेरित करता है। इस प्रतीक परक दृष्टिकोण का वर्णन करते हुए ''प्रसिद्ध वैदिक ऋचा, पुरुष सूक्त का उल्लेख करते हुए श्री अरविन्द आग्रह करते हैं कि वह केवल काव्य का बिम्ब मात्र नहीं हैं बल्कि मनुष्य और समस्त ब्राह्माण्ड का वर्णन छिपी हुई दिव्य सत्ता के प्रतीक रूप में करने का प्रयास है।''[13]

''प्रतीकपरक अवस्था के बाद प्ररूपात्मक अवस्था आती है। पहली मुख्यतः धार्मिक है तो दूसरी मनोवैज्ञानिक और नैतिक धर्म का, आचरण और संयम का, आदर्श

मानव–विकास की इस अवस्था में निर्धारित होता है। ईश्वर की, विश्व–तत्व की, कोई प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति नहीं होती, फिर भी प्रस्पात्मक दृष्टिकोण मूल्यवान है क्योंकि उसके कारण कुछेक सामाजिक आदर्शों का, विशेष कर मान के आदर्श का विशदीकरण है।''[14] किन्तु अन्त में ये आदर्श निरी रूढ़ियों मात्र रह जाते हैं, क्योंकि उनकी जड़ें मनुष्य के आन्तरिक जीवन में नहीं होती। इसलिए मानव जाति तीसरी रूढ़िपरक अवस्था में पहुँचती है, जिसमें नैतिक सम्पूर्णता के बजाय वाहन तत्वों का महत्व बढ़ जाता है। रूढ़िपरक अवस्था के स्वर्णयुग में समाज में एक प्रकार की वस्तुपरक प्रक्रिया' सक्रिय होती है। जीवन व्यवस्थित हो जाता है और तैल–स्निग्ध मशीन की भाँति संगठित हो जाता है परन्तु उसका ह्रास अनिवार्य है, क्योंकि उसमें रूप की प्रधानता रहती है, आत्मा पिछड़ जाती है। महापुरूष पैदा होकर इस बाढ़ को रोकने का प्रयत्न करते है, परन्तु उनके प्रयास क्षणजीवी सिद्ध होते है। अन्त में रूढ्ढि और सत्य के बीच खाई असह्य हो जाती है और एक नये युग का व्यक्तिवाद के युग का प्रारम्भ होता है।

श्री अरविन्द व्यक्तिवादपरक अवस्था का वर्णन बड़ी सहानुभूति से करते हैं। वे उसे स्वतंत्रता और गतिशील तर्कनावाद की अवधारणाओं से संचालित अननुवर्तिता तथा विद्रोह की दिशा में आवश्यक चरण मानते हैं।

''उन्होंने आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोणों की एक साथ सक्रियता की तथा मानव संस्कृति के लिए उनके घात–प्रतिघात की सम्भावनाओं की विस्तार से जांच करते हैं। वे इन दोनों दृष्टिकोणों के उपयोग द्वारा प्राप्त पाश्चात्य समाज की प्रगति की स्वीकार करते हैं। किन्तु इस सफल उपयोग के बावजूद यदि आज जीवन में संकट है तो उसका कारण दोहरा है। एक तो वैज्ञानिक और समाजशास्त्री दोनों ही यह भूल गये जान पड़ते हैं कि विकास के सच्चे नियम की समझने के लिए न केवल मनुष्य का अतीत बल्कि उसका भविष्य भी उसकी मानसिक और आध्यात्मिक नियति भी जानना आवश्यक है।''[15] दूसरे मानव विकास के साधन के रूप में तर्कना पर अधिक भरोसा किया जाता है। दूसरी कठिनाई वास्तव में पहली से अलग नहीं की जा सकती।

श्री अरविन्द का विश्वास है कि मनुष्य अब एक नये आध्यात्मिक युग के द्वार पर है जो ऐसे रूपान्तरण से प्रारम्भ होगा जिसमें बुद्धि को पीछे छोड़ दें जबकि स्वयं बुद्धि ही उसकी अनिवार्यता की बात चुपके से कान में कहती है।

सभ्यता के पहले चरण में मानव चेतना जड़ पदार्थ की सम्भावनाओं को समाप्त करती है। वह कहती है – 'अन्नम ब्रह्मं', दूसरे चरण में मनुष्य अस्तित्व को विकासमान जीवन का स्पन्दन मानता है। वह कहता है– 'प्राण ब्रह्म'। और भी ऊपर उठकर वह मान आत्माभिव्यक्तिकारी और आत्मान्वेषणकारी मन से साक्षात्कार करता है। वह कहता है – 'मनोमय ब्रह्म'। अब वह समय आ गया है जब हम चिरन्तन मन से चिरन्तन आत्मा की ओर बढ़ें और कहें – 'अयमात्म ब्रह्म'। केवल इस प्रकार ही समाज का आध्यात्मीकरण हो सकता है।

वे यह मानते हैं कि मनुष्य कोशिश करे या न करे मानवता का विकास यथा समय प्राकृतिक ढंग से होकर रहेगा। यदि मनुष्य अपने अहंकार को छोड़कर अति मानसिक स्तर को उपलब्ध करना चाहता है तो उसके लिए उनका मार्गदर्शन महत्वपूर्ण और उपयोगी है। उन्होंने कभी भी व्यक्तिगत मुक्ति की हिमायत नहीं की, उनकी साधना और दर्शन का मुख्य उद्देश्य पूरे विश्व का कल्याण और भलाई ही रहा।

सन्दर्भ

1. दिवाकर आर0आर0 : महायोगी श्री अरविन्द, राधा कृष्णनन् के द्वारा भूमिका, भारतीय भवन, बम्बई।
2. विश्वभारती क्वार्टरली – टैगोर, खण्ड 6, पृ0 336।
3. श्री अरविन्द– लैगलें, पृ0 18
4. इ इन्टिग्रल फिलासफी ऑफ श्री अरविन्द– हरिदास चौधरी, पृ0 31
5. द लाइफ डिवाइन – श्री अरविन्द, पृ0 688
6. द डेस्टिनी आफ मैन – श्री अरविन्द, पृ0 7
7. लाइन्स आफ डिसेन्ट ऑफ काशसनेस – नलिनी कान्त गुप्त
8. द लाइफ डिवाइन – श्री अरविन्द, पृ0 946
9. इन्ट्रोडक्शन टु द फिलासफी आफ श्री अरविन्द – एस. के. मैत्र, पृ0 86
10. लास्ट पोइम्स – श्री अरविन्द, पृ0 20
11. लास्ट पोइम्स – श्री अरविन्द, पृ0 20
12. लास्ट पोइम्स – श्री अरविन्द, पृ0 9
13. द ह्यूमन साइकिल – श्री अरविन्द, पृ0 6
14. द ह्यूमन साइकिल – श्री अरविन्द, पृ0 9
15. द ह्यूमन साइकिल – श्री अरविन्द, पृ0 74

वाराणसी की औद्योगिक एवं व्यापारिक स्थिति

डॉ० पद्मा मिश्रा

एसोसिएट प्रो0 इतिहास विभाग, आर्य महिला पी0जी0 कॉलेज, वाराणसी

विश्व की प्राचीनतम् जीवित संस्कृति को अवधारित करने वाली वाराणसी का वैशिष्टय जिन प्रमुख कारणों से स्वीकार किया जाता है उनमें एक कारण इसका व्यापारिक केन्द्र के रूप में होना भी रहा है। वाराणसी में सांस्कृतिक निरन्तरता को बनाये रखने में व्यापार की भी महत्वपूर्ण भूमिका रही है।

डॉ0 मोतीचन्द का यह कथन उल्लेखनीय है कि ''अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण वाराणसी का बहुत प्राचीन काल से व्यापारिक महत्व रहा है। उसके तीर्थ तथा धार्मिक क्षेत्र बनाने के प्रधान कारण निःसन्देह वहां के व्यापारी रहे होंगे।''[1] अगर काशी में व्यापार न होता तो नगरी केवल एक आश्रय बनकर रह जाती और उसमें उस नागरिक संस्कृति का अभाव होता, जिसके लिए आज भी वाराणसी विख्यात है। वाराणसी की इस व्यापारिक महत्ता के अनेक साहित्यिक और पुरातात्विक प्रमाण मिले हैं। बौद्ध साहित्य में वाराणसी के व्यापारियों की प्रशंसा की गयी है और उसके व्यापार के प्रधान अंग ''काशी के बने कपड़ों'' और चन्दन के अनेक उल्लेख आये हैं।[2]

डॉ0 वासुदेव शरण अग्रवाल ने काशी के इतिहास की भूमिका में लिखा है कि ''गंगा तट के इस ध्रुव बिन्दु, पर बसने के कारण काशी की जन्म कुण्डली में दो ग्रह बहुत उच्च के पड़ गये एक व्यापार या अर्थ समृद्धि के लिए और दूसरा धर्म के लिए।

जलमार्ग – वाराणसी प्राचीन काल से आधुनिक काल के प्रारम्भ तक अपने व्यावसायिक क्रिया कलापों के लिए मूलतः जलमार्गों पर ही आश्रित थी। जातक कथाओं से ज्ञात होता है कि वाराणसी जल मार्गों द्वारा भारत के अधिकांश व्यापारिक नगरों से जुड़ा हुआ था। मुगल काल में गंगापार रामनगर, बलुआ और कैथी के व्यापारिक घाटों का विवरण मिलता है।[3] 200 से 500 तथा 700 यात्रियों को बैठाने की क्षमता रखने वाले विशाल जहाजों के निर्माण प्रयोग किये जाने के विवरण मिलते हैं। पीटर मंडी के अनुसार आगरा से बंगाल तक माल गंगा नदी में बड़ी–बड़ी नावों द्वारा ले जाया जाता था। नदियों द्वारा माल ले जाने के लिए लाइसेंस लेना पड़ता था और फीस देनी पड़ती थी।[4]

स्थल मार्ग – स्थलमार्ग प्राचीन तथ्य यह स्पष्ट करते हैं कि वाराणसी स्थलमार्गों द्वारा भारत के प्रमुख नगरों के साथ सम्बद्ध रहा। वाराणसी से राजगृह, श्रावस्ती, तक्षशिला, वैशाली जैसे नगरों की ओर सड़क मार्ग से यात्राओं के विवरण प्राप्त होते हैं। बौद्ध साहित्य से वाराणसी के स्थल मार्ग का विवरण प्राप्त होता है। स्थल मार्ग से व्यापार करने वाले

व्यापारी को थलपथ कम्मिका कहते थे[5] वाराणसी के यातायात के संबंध में अलबरूनी ने जो विवरण दिया है उससे यह स्पष्ट होता है कि एक सड़क आगरा की बारी तहसील (कन्नौज) से अयोध्या होते हुए वाराणसी, गोरखपुर, पटना, मुंगेर और गंगा सागर तक जाती थी।

औद्योगिक संरचना – वाराणसी के प्राचीन इतिहास के सम्बन्ध में प्राप्त तथ्यों से स्पष्ट होता है कि वाराणसी सदैव से व्यापार का बहुत बड़ा केन्द्र रहा था। काशी और उसकी राजधानी वाराणसी का महत्व विशेष रूप से उसकी व्यापारिक और भौगोलिक स्थिति के कारण था। पश्चिम की ओर गंगा और यमुना के रास्ते काशी के व्यापारी मथुरा पहुंचते थे तथा पूरब की ओर चंपा होते हुए ताम्रलिपी के बन्दरगाह तक जाते थे। वाराणसी उस महाजनपद पर अवस्थित था, जो तक्षशिला से राजगृह और बाद में पाटलिपुत्र को जाता था। यहाँ से अन्य सड़के देश के विभिन्न भागों को जाती थी, जिनमें काशिक चन्दन और वस्त्र द्वारा काशी की महत्ता देश में चारो ओर फैलती थी। पाणिनी के एक सूत्र (4/3/72) पर भाष्य करते हुए पतंजलि ने लिखा हैः "वणिजो वाराणसी जित्वरीत्युपाचरन्ति" अर्थात् ई0 पू0 दूसरी शताब्दी में व्यापारी लोग वाराणसी को 'जित्वरी' नाम से पुकारते थे। जित्वरी का अर्थ है, जयनशीला अर्थात जहां पहुंच कर पूरी जय, व्यापार में पूरा लाभ।[6]

वाराणसी का वस्त्र उद्योग – वाराणसी उद्योग धन्धों की राजधानी रही है। प्राचीन काल के सूती वस्त्रों को 'काशीकुत्तम' तथा 'काशीय' कहा जाता था, इसकी गुणवत्ता के संबंध में महापरिनिर्वाण सुत्त का टीकाकार लिखता है कि बुद्ध का मृत शरीर काशी में बने वस्त्र में लपेटा गया था।[7] वह इतना महीन और घनी बुनाई वाला था कि तेल तक नहीं सोख सकता था। जातक कथाओ में वाराणसी के रेशम उद्योग और ऊनी उद्योग का वर्णन प्राप्त होता है।[8] वस्त्रों पर महीन कढ़ाई के उद्योग भी आकर्षण के केन्द्र थे। मौर्य, शुंग, कुषाण, गुप्त काल में वस्त्र उद्योग के कारण काशी का व्यापारिक महत्व बना रहा। रान्फ फिच ने (1583–91) वाराणसी की यात्रा की थी, उसने लिखा है कि वाराणसी में कपड़े का व्यापार उन्नत पर था। मुगलों के लिए यहां बड़ी संख में पगड़िया बनती थी। तत्कालीन समाज में सम्पन्न नागरिक काशी के वस्त्रों को धारण करते थे।[9]

तार्वेनियर ने 1660–65 के बीच वाराणसी की यात्रा की थी। तावेर्नियर ने लिखा है वाराणसी शहर में कई कारवाँ सराएँ थी, उनमें एक बहुत बड़ी और बड़े सुव्यवस्थित ढंग से बनी हुई थी। एक सराएँ के चौक में दो दलानें थी, जहां रेशमी और सूती कपड़ों और बहुत सी दूसरी चीजों का सौदा होता था। बेचने वालों में अधिकतर कारीगर होते थे, जो वस्त्र बनाकर खुद बेचते थे।[10]

मनूच्ची के अनुसार वाराणसी में सोने चांदी के तारबाने के काम बहुत होते थे। सिल्क उद्योग के लिए बनारस, अहमदाबाद और मुर्शिदाबाद प्रमुख थे। बनारसी सिल्क की साड़ी और सिल्क पर जारी के कार्य के लिए प्रसिद्ध था।[11] खुलासत– उत्–तवारीख से ज्ञात होता है कि वाराणसी में कपड़े की झुना और मिहुगूल मुख्य किस्मे थी।[12] वाराणसी

के अनेक उद्योगों में कपड़े का उद्योग प्रमुख था यहां पर मुगलों के कामदार रूमाल कमरबन्द, पगड़िया और साड़िया प्रचुर मात्रा में बनती थी। यहां के कपड़ों की मात्रा और श्रेष्ठता के कारण मैनरिक इतना प्रभावित हुआ था कि उसने वाराणसी की धनाढयता का मुख्य कारण यहाँ के अच्छे कपड़े का उत्पादन बतलाया। वाराणसी में करीब 7000 करघे शहर में और आसपास के स्थानों में चलते थे।[13] वाराणसी में कीमरवाब या कामदार कपड़े का उत्पादन अत्यधिक होता था।[14]

बनारसी साड़ी के विभिन्न स्वरूपों में कतान की साड़ी, जंगला साड़ी, किमखाब जड़ी तथा तनछुई साड़ी, शिफान, काता चेक और पोंच साड़ी की गणना की जाती थी। वाराणसी कपड़ा उद्योग के क्षेत्र में अपनी प्राचीन परम्परा की निरन्तरता को अभी भी बनाये हुए है। प्राचीन और मध्य काल में जरी के तार में चांदी और सोने के तारों का प्रयोग होता था लेकिन अब उसकी जगह टेस्टेट जरी का प्रयोग किया जाता है। वर्तमान में वस्त्र निर्माण के प्रमुख तीन केन्द्र हैं – अलईपुरा, 2 मदनपुरा, 3. लल्लापुरा। उक्त केन्द्रों में मदनपुरा अपनी नफासती अलंकरणऔर परम्परागत महीन काम के लिए प्रसिद्ध है। इसके विपरीत अलईपुरा के कारीगर बुनाई केक्षेत्र में नई, नई खोज और नये–नये आविष्कार के लिए प्रसिद्ध है। इन की प्रकृति सदा परम्परा से हटकर समय–समय पर बदलते फैशन की दौड़ में आगे रहने की रही है।[15]

काष्ठ उद्योग – प्राचीन काल के ऐतिहासिक स्रोतों से वाराणसी के काष्ठ उद्योग पर प्रकाश पड़ता है। अलीनचित्त जातक से ज्ञात होता है कि बनारस में बढ़ईगिरी का काम बहुत अधिक होता था। बनारस के निकटवर्ती एक ग्राम में बढ़इयों के पांच सौ परिवार रहते थे। ये लोग रथ, बैलगाड़ी, मूसल, कृषि, उपकरण, नाव, चारपाई, खड़ाऊ तथा खिलौने बनाते थे।[16] काष्ठ कला वंश परम्परा के आधार पर अब तक चली आ रही है। काशी के काष्ठ कला उद्योग में काष्ठ के खिलौनों के उद्योग की आज भी अपनी एक अलग पहचान है, जो अपनी उत्कृष्ट कलाकारी एवं सुन्दर रंगाई के लिए विख्यात है।[17] काशी का काष्ठ खिलौना उद्योग खोजवाँ के काश्मीरीगंज मुहल्ले में सिमटा हुआ है। कुछ लोग काष्ठ का काम बेनियाबाग, रेवड़ी तालाब एवं चन्दुआ सट्टी में भी करते हैं। वाराणसी का कारीगर लगभग 300 प्रकार के खिलौने बनाता है जो देश–विदेश के विभिन्न बाजारों में बिकते हैं।[18]

हाथी दाँत का काम – प्राचीन काल में वाराणसी हाथी दांत के उद्योग का महत्वपूर्ण केन्द्र था हाथी दांत की सुन्दर कलात्मक वस्तुएँ बनायी जाती थी जैसे चूड़ियाँ, कंगन, शतरंज की मोहरे आदि। हाथी दांत की वस्तुओं का निर्यात भी होता था।[19]

पीतल, ताँबा और मीनाकारी – प्राचीन काल से काशी पीतल व तांबे की बनी कलात्मक वस्तुओं के लिए प्रसिद्ध रही है। काशी के कारीगरों ने बौद्ध काल में पीतल के उत्कृष्ट कृतियों का निर्माण किया। सातवाहन युग में ताँबे व कास्य के सिक्कों से भरे कटोरे को बुद्ध के समक्ष प्रस्तुत करने का उल्लेख मिलता है।[20] विदेशी यात्री राल्फफिच

ने 1583 के काशी यात्रा का वर्णन करते हुए यहां के तांबे के बर्तन तश्तरियाँ तथा नित्य उपयोग की जाने वाली वस्तुओं का उल्लेख किया है। शाहजहाँ कालीन बर्नियर ने धातु से निर्मित सामग्रियों के अतिरिक्त सरकारी कारखाने का भी उल्लेख किया है।[21] काशी के कारीगर तांबे पीतल के कलात्मक वस्तुओं के निर्माण में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। वर्तमान उद्योग प्राचीन काल की कलात्मक परम्परा को आज भी संजोए हुए है।

पूजा के लिए प्रयुक्त होने वाले विभिन्न पात्र यहां के विशिष्टतम कलात्मक उदाहरण रहे हैं। इन पात्रों पर परम्परागत आध्यात्मिक चित्रण भी किया जाता है। ये पात्र दो धातुओं के मिश्रण से तैयार किए जाते हैं। इनमें पीतल के बर्तन पर आध्यात्मिक दृश्यों व देवी–देवताओं की मूर्तियों की खुदाई की जाती है। खुदाई करने के पश्चात् उनमें ताँबे द्वारा दृश्यों और मूर्तियों को अलंकृत करते हैं। इन दो रंगों के धातुओं के बर्तनो को 'गंगा–जमुनी' कहा जाता है, गंगा–जमुनी पात्रों के लिए काशी महत्वपूर्ण केन्द्र रहा है।[22]

गंगा–जमुनी बर्तनों की तरह पीतल के सजावटी पात्रों पर मीनाकारी की कला काशी में विगत दो शताब्दियों से अपनी विशिष्टता के साथ मौजूद है। इस कला के उदाहरण भारत कला भवन में आज भी सुरक्षित हैं। मीनाकारी का अलंकरण पीतल के पात्रों के ऊपरी सतह पर किया जाता है।

जहाँगीर के काल में जब सरकारी मुख्यालय जौनपुर से काशी स्थानान्तरित हुआ तब उसके साथ ही बहुत से कारीगर भी यहां आए। उसके बाद इस नगर में अपने प्राचीन परम्पराओं को पुनः प्रारम्भ किया। यहां के मीनाकारी ने सम्पूर्ण राष्ट्र में ख्याति अर्जित किया है। यहां की प्रसिद्धी मुख्यतः गुलाबी रंग के मीनाकारी के लिए रही है।[23] भारत में जयपुर के पश्चात, वाराणसी ही मीनाकारी का प्रमुख केन्द्र रहा है। जयपुर के लाल रंग की मीनाकारी की भांति वाराणसी की गुलाबी मीनाकारी आकर्षण का केन्द्र रही है।[24]

तेल और इत्र – प्राचीन काल से ही तेल और इत्र का व्यवसाय अपनी उन्नति पर था। बैहाकी के विवरण के ज्ञात होता है कि 1034 ई0 में नियाल्तगीन ने जब बनारस पर आक्रमण किया था उस समय मुस्लिम सेना ने यहां के वस्त्र व्यवसायियों इत्र फरोशों और जौहरियों की दूकानें लूटी थी।[25] जातक द्वारा भी पता चलता है कि काशी में सुगंधित द्रव्यों का व्यापार होता था। जातकों में काशिक चन्दन का नाम आया है।[26] वरूणा के किनारे अभी भी चन्दन के पेड़ मिलते हैं। खजुरी के पास तो प्रायः सब बगीचों में चन्दन के पेड़ हैं इससे ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में चन्दन का आयात नहीं होता था बल्कि कपास की तरह चन्दन भी वाराणसी के आस–पास होता था।[27]

वाराणसी के व्यवसायी – यह वर्ग अत्यत सम्पन्न था। विभिन्न उद्योगों के संघ भी थे जिसे श्रेणी कहते थे। जातकों से पता चलता है कि उस समय विभिन्न व्यवसायों की 14 श्रेणियां थीं। वाराणसी में चार श्रेणियों का वर्णन मिलता है जैसे विधाकी श्रेणी, कामार श्रेणी, चामाकार श्रेणी और चित्रकार श्रेणी। गुप्तकाल की सील से दो और श्रेणियों का

पता चलता है वाराणसीस्यारण्यक श्रेणी और गवयाक श्रेणी।[28]

वाराणास्यारण्क श्रेणी अर्थात वाराणसी के चारो ओर बसने वाली जंगली जातियों का संगठन जो शहर के जीवन के लिए उपयोगी बहुत से धन्धों में लगी हुई थी लकड़ी काटना, टोकरी और पत्तल बनाना इन्हीं के माध्यम से संचालित होते थे। इसके अतिरिक्त कामार श्रेणी सम्भवतः कुम्भकार श्रेणी रही थी जिनके द्वारा बनाये हुए मिट्टी के बर्तन और खिलौने भारत कला भवन में धरोहर के रूप में विद्यमान है। इसी प्रकार मणिकार श्रेणी भी रही होगी। राजघाट की खुदाई में कई सहस्त्र मनके प्राप्त हुए जो कला भवन में सुरक्षित हैं। नगर में माला फूल वालों की श्रेणी रही होगी क्योंकि जातकों में वाराणसी का नाम पुष्पवती भी आया है।[29]

प्राचीन काल में ही बनारस उत्तर भारत का सर्वप्रमुख व्यापारिक केन्द्र प्रतीत होता है। पश्चिमोत्तर भारत तथा देश के दूरस्थ स्थानों से वाणिज्य व्यापार के लिए यहां आते थे। उत्तरापथ का एक व्यापारी 500 घोड़े लेकर बनारस आया था[30] विशप हैबर ने लिखा है– कि वाराणसी व्यावसायिक केन्द्र का ऐसा स्थान है जहां पर काश्मीरी शाल, दक्षिण से हीरे जवाहरात और ढाके से मलमल आकर बिकती है। यहां पर व्यापार का बीमा भी होता था। वाराणसी में बीमा करने वालों के वंशज विद्यमान थे। ब्रिटिश शासन के आगमन से इस व्यापार का अन्त हुआ।[31]

व्यापार में हुण्डी का प्रचलन था। हुण्डी एक प्रकार से मनीआर्डर, पोस्टल आर्डर, चेक अथवा बैंक ड्राट का कार्य करती थी। हुण्डी जारी करने के लिए महाजन कमीशन लेता था। बनारस में यह 6 प्रतिशत कमीशन लिया जाता था।[32]

विदेशी व्यापार –

जातक कथाएँ समुद्री व्यापार पर प्रकाश डालती हैं। सुधार जातक (सं0 463) से हमें पता चलता है कि भारतीय व्यापारी फारस की खाड़ी लाल सागर एवं भूमध्यसागर की यात्राएँ करते थे[33] इसका प्रमाण काशी का सप्तसागर मुहल्ला है। यहाँ अभी तक सप्तसमुद्रों के कूप और मन्दिर हैं। जहाँ सप्तसागर महादान और पूजा होती है।[34] निर्यात की वस्तुओं में वाराणसी का सिल्क वस्त्र और हाथी दाँत की बनी वस्तुएँ प्रमुख थी। ये वस्तुएँ बेबीलोन ग्रीस और रोम तक पहुंचती थी।[35] विदेशी व्यापार समुद्र एवं स्थल दोनों मार्गों से होता था। काबुल कन्धार होते हुए भारतीय माल पश्चिम एशियाई देशों को जाता था।

वाराणसी औद्योगिक एवं व्यापारिककेन्द्र के रूप में प्रख्यात रहा है। यद्यपि यहां के अनेक पुराने कला उद्योग काल के प्रवाह में विलीन हो चुके हैं, किन्तु इनमें से अनेक कला–कौशल आज भी विद्यमान हैं। कुछ प्राचीन कला–कौशल सुविधाओं के अभाव में दम तोड़ रही है। प्राचीन कला उद्योगों के स्थान पर नये लघु और भारी उद्योगों ने वाराणसी के औद्योगीकरण को नया रूप दिया है। लेकिन इसे असन्तुलित औद्योगीकरण की संज्ञा दी जा सकती है। काशी की गरिमा के अनुरूप प्राचीन–कला उद्योगों में प्राण

फूंकने का प्रयास हो और नये उद्योग धन्धों का भी विकास हो। थोड़ी सी लापरवाही इस प्राचीन संस्कृति के धरोहर को नष्ट कर सकती है।

संदर्भ ग्रन्थ –

1. डा0 मोतीचन्द्र, काशी का इतिहास, बम्बई, 1962 पृ0 9
2. वही
3. डा0 मोतीचन्द, काशी का इतिहास बम्बई 1962 पृ0 13
4. पीटर मण्डी : द ट्रेवल्स ऑफ पीटरमण्डी इन यूरोप एण्ड एशिया 1608–87 सम्पादित आर टेम्पिल लन्दन 1914, भाग–2 पृ0 87–224
5. जातक, भाग 1 संख्या 4, पृ0 204
6. अष्टाध्यायी के 4/3/72 सूत्र कीलहार्न 7, 213
7. महापरिनिर्वाण सुत्त 5/26, जातक 6/47/6/151,1/335 जातक 6/500
8. जातक 6/577, महावग्ग सम्पा0 भिक्षु जगदीश कश्यप, बिहार, 1956 8/1/4
9. विलियम फास्टर : अर्ली ट्रेवेलस इन इण्डिया, पृ0 176
10. बाई जो वापतीस्त तावेर्नियर : ट्रेवेल इन इण्डिया, पृ0 118–19
11. निकाली मनूच्ची : स्टोरिया डो मोगोर, अनु0 डब्ल्यू इरबिन, लन्दन, 1906 पृ0 83
12. यदुनाथ सरकार, स्टडीज इन औरंगजेब इन, कलकत्ता 1933, पृ0 47
13. हमीदा खातून नकबी : अरबन सेन्टर्स एण्ड इन्डस्ट्री इन अपर इण्डिया (1556–1803) लन्दन, 1968 पृ0 91
14. वही
15. श्री राजेन्द्र कुमार दूबे : बनारस साड़ी उद्योग (लेखः सन्मार्ग वाराणसी/विशेत्रांक अगस्त 1986) पृ0 197
16. जातक भाग संख्या 156
17. श्री जियालाल : नानारंग में नाचे खिलौना काशी का, (लेखःसन्मार्ग काशी विशेषांक) पृ0 203
18. वही
19. श्याम मनोहर मिश्र : प्राचीन काल में आर्थिक जीवन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 1997 पृ0 138, जातक 2/139
20. डा0 राजेन्द्रप्रसाद सिंह : वाराणसी के उद्योग कला : पीतल, ताँबे और मीनाकार के संदर्भ में (लेख सन्मार्ग) अगस्त 1986, पृ0 86
21. वही

22. वही
23. वही पृ0 219
24. वही पृ0 219
25. वैहाकी : तारीख ए–वैहाकी, सम्पा0 डब्ल्यू0 एच मारले कलकत्ता–1862, पृ0 91
26. उक्ति व्यक्ति प्रकरण, 38/24
27. डा0 मोतीचन्द्र, का इ0 पृ0 48
28. जातक – भाग 6 पृ0 22
29. डॉ0 मोतीचन्द्र का इ0 भूमिका वासुदेव शरण उपाध्याय पृ0 15
30. जातक, 2 पृ0 112
31. परमात्मा शरण, रायकृष्ण दास : काशी प्रदर्शन, पृ0 10
32. तार्वेनियर, पूर्वोक्त, पृ0 227
33. जातक 4, पृ0 138–42
34. यह कथन का0 इ0 (डा0 मोतीचन्द) की भूमिका से लिया गया है।
35. ओमप्रकाश सिंह : भारत का आर्थिक इतिहास, पृ0 1

हिन्दी : भारत की भारती

डॉ0 आशा तिवारी ओझा

असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, सुन्दरवती महिला महाविद्यालय, तिलकामंझी भागलपुर वि0वि0, भागलपुर।

भाषा लोक संपत्ति होती है। लोक शक्ति भाषा की आंतरिक शक्ति है। लोक प्रचलित धारणाएं मान्यताएं, लोक गीत, लोक कथा, व्रत–त्योहार आदि समस्त लोक–भावनाओं व लोक संस्कृति की संचालिका और संवाहिका भाषा ही लोक वाङ्मय बनने की अधिकारिणी हो सकती है। भाषा समाज की वह अन्तःस्त्रावित धारा है जो स्वतः प्रवाहित होती रहती है और अपनी ही शक्ति से निरंतर आगे बढ़ती रहती है। इसे किसी उच्च आधार की तलाश नहीं होती है और न ही इसे किसी के सहारे की आवश्यकता होती है। यह परमुखापेक्षी भी नहीं होती। किसी प्रचार तंत्र, अर्थतंत्र अथवा बड़े लोगों के जोर पर यह नहीं चलती बल्कि लोक भाषा का प्रवाह–

"कब फूटा गिरि के अंतर से
किस अंचल से उतरा नीचे
किस घाटी से बहकर आया
समतल में अपनी को सींचे"
यह पता ही नहीं चलता।

जब भाषा राजमार्ग को छोड़कर पगडण्डी पर उतर जाती है तो उसका क्षेत्र विस्तृत हो जाता है। वह जन–जन के मन में रच बस जाती है तथा व्याकरण के नियमों की सख्त पहरेदारी को अनदेखी कर अपने सहज–सरल चाल में सुदूर गाँव, मोहल्ले झोपड़ियों और खेत खलिहानों तक पहुँच जाती है। इस प्रकार भाषा लोक–भाषा, जन–भाषा या लोकवाङ्मय की संज्ञा से विभूषित हो जाती है।

हिन्दी एक ऐसी भाषा है जो हमारे बहुभाषिक देश की धमनियों में निरंतर प्रवाहित होती रहती है। यह ज्ञान विज्ञान, शिक्षा, प्रशासन, राजनीति, व्यापार, प्रौद्योगिकी तथा समस्त सामाजिक और व्यावहारिक सन्दर्भों से जुड़ी हुई है।

"इसे अपने जन्म से लेकर आजतक कभी भी किसी भी उदार राजा का राजाश्रय नहीं मिला, किन्तु इसे लोकाश्रय, लोकाधार पग–पग पर मिलता रहा। इसी कारण वह भारतीय लोक संस्कृति से संपृक्त होकर भारतीय जनता का एक अभिन्न सांस्कृतिक अंग बनकर उसका आज विश्व भर में प्रचार प्रसार कर रही है।" 1 –

भारतीय संस्कृति समन्वयवादी है। हिन्दी का आंतरिक स्वरूप भी समन्वयवादी है। यह बड़ी आसानी से लोक प्रचलित देसी और विदेशी शब्दों तथा भाव शैलियों को

पचाती जाती है तथा अपना बनाती जाती है। अनेकता में एकता भारतीय जनमानस की मूल भावना है। हिन्दी भी विभिन्न भाषाओं में राष्ट्रीय चेतना के समरस भाव की सम्पोषिका है। समस्त भारत के विभिन्न प्रान्तों में अपने विभिन्न रूपों के साथ यह अपने केन्द्रीय स्वरूप को स्थापित किये हुए है। जो इसकी राष्ट्रीयता का सूचक है और भाव ग्राहिणी शक्ति भी है।

आज इस वैश्वीकरण के युग में उपभोक्तावादी तथा वस्तुवादी दृष्टि ने लोक संस्कृति को भी प्रभावति किया है। यही कारण है की हमारी लोकभाषा की तरलता, सरलता तथा सहजता में धीरे–धीरे आधुनिक बुद्धिवादी, कृत्रिमता प्रवेश कर रही है। त्योहार पर्व तथा उत्सव मनाने की आधुनिक पद्धति ने भारतीय संस्कृति और लोकवाङ्मय का अनपेक्षित नवीनीकरण कर दिया है। यहाँ तक की संस्कार बोधक, संबोधक व अभिवादन परक शब्दों के आधुनिकीकरण ने हिन्दी के अंतर संस्कार को झकझोर कर रख दिया है। तथापि उदारमना हिंदी ने किसी का अनादर नहीं किया। इसने चुपचाप सबको आत्मसात किया.........और समय की नजाकत को समझ अपना कलेवर बदल दिया है। ध्यातव्य है, कि भारत की मानक हिन्दी में ही नहीं लोकबोलियों तथा प्रादेशिक भाषाओं में भी संबोधन तथा अभिवादन बोधक शब्द अंग्रेजी के सम्बन्ध में विस्थापित होते जा रहे है। जैसे– माता जी, पिता जी के स्थान पर 'मम' तथा 'डैड' व 'मदर' 'फादर' प्रभावी बनते जा रहे है। चाचा –चाची, काका–काकी, मामा–मामी, मौसा–मौसी, फुआ–फूफा आदि की लिए अंग्रेजी से आगत अंकल–आंटी शब्दों का व्यापक प्रचलन हो रहा है। हमारी लोक संस्कृति की रिश्ते–नाते की विशालता सिकुड़कर कतिपय नीरस शब्दों का आकार ग्रहण कर चुकी है। परिणामस्वरूप चरणस्पर्श, प्रणाम, नमस्ते, आशीर्वाद आदि सांस्कृतिक शब्दों के स्थान पर गुडबाय, गुडमॉर्निंग, गुडनाइट, हेलो–हाय आदि अंग्रेजी शब्दों का प्रचलन चल चुका है।

वस्तुतः भाषा हमारे संस्कार, स्वभाव, आचरण तथा व्यवहार की बोधक होती है। भाषा पर इस सांस्कृतिक आक्रमण ने हमारे लोक संस्कार को बुरी तरह मर्माहत किया है। आज हमारी हिंदी का दायित्व और भी बढ़ गया है। उसे हमारे सांस्कृतिक मूल्यों, इतिहास बोध के साथ–साथ प्रगतिशील परम्पराओं को भी धारण करना है।

हिंदी लोकवाणी है। यह जनमानस के संस्कारों की संवाहिका है। इसका उद्‌गम बहुत प्राचीन है। आज इसका जो स्वरूप खड़ा है वह अचानक उभरकर नहीं आया है। हमारी जनचेतना तथा हमारे भाषा मनीषियों ने हिंदी को सदियों से सजाया, संवारा और परिमार्जित किया है। आदिकाल में अमीरखुसरो ने इस भाषा की लोकजीवनी शक्ति को पहेली के रूप में अभिव्यक्त किया था।

यथा– एक थाल मोती से भरा, सबके सिर पर औंधा धरा।
चारों ओर वह थाली फिरे, मोती उससे एक न गिरे।

दुर्भाग्य से गुलामी के समय अंग्रेजी हुकूमत और गुलामी के बाद अंग्रेजी परस्त

शासकों ने हिंदी को कमजोर करने की बहुत कोशिश की परन्तु, यह भाषा नित नए कलेवर के साथ और अधिक मजबूत होकर उभरती रही है। इसका कारण यह है कि हिंदी की प्रवृत्ति विपरीत परिस्थितियों में भी संघर्ष करके अपने अस्तित्व को बनाये रखने की है। हिंदी की पूर्ववर्ती भाषाएँ उतने समय तक प्रचलन में नहीं रही जितने समय तक हिंदी भाषा प्रचलन में है। इसका कारण स्पष्ट है यह कबीर की कुटिया में भी सहज रूप से गाई जाती है। मीरा की वेदना, तुलसी का समन्वय, सूर का वात्सल्य, रहीम की नीति, जायसी की प्रेमव्यंजना से लेकर केशव की बौद्धिकता सभी को हिन्दी अभिव्यक्त करने में समर्थ है। भूषण की राष्ट्रीयता हो या बिहारी की गागर में सागर भरने की इच्छा अथवा घनानंद की स्वच्छंद काव्यधारा हिन्दी के बिना अन्य भाषा में संभव नहीं था। भारतेंदु का देशप्रेम और महावीरप्रसाद द्विवेदी का कठोर अनुशासन सबको हिन्दी ने सहर्ष स्वीकार किया है। प्रसाद, पन्त, निराला और महादेवी के स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह को हिन्दी ही संभाल सकती है। वस्तुतः ''तमाम षड्यंत्रों और कुचक्रों के बावजूद हिन्दी आज जन–जन के गले का हार बनी हुई है, क्योंकि उसमें समाज के अनुरूप स्वयं को ढालने की अपूर्व क्षमता है। साथ ही समाज के भीतर व्याप्त छटपटाहट, राग–विराग और सभी मनोभावों को व्यक्त करने के लिए विपुल शब्द सम्पदा है। यह हिन्दी की अभिव्यक्ति की सुगमता का ही परिणाम था कि उर्दू के धनपतराय को हिन्दी में प्रेमचंद बनकर आना पड़ा और कलम का सिपाही, कथा सम्राट के सिंहासन तक पहुँच गया।''[2]

ध्यातव्य है, कि आदिकाल से लेकर वर्तमान काल तक साहित्य में भी हिंदी लोक संस्कृति के साथ–साथ चली है कविवर चंदवरदायी, विद्यापति, कबीर, रहीम, रसखान, तुलसी, सूर, मीरा, आदि कवि सम्पूर्ण भारतीय जनमानस के कवि हैं। कबीर के अनुसार –''संस्कृत है कूप जल भाषा बहता नीर'' इसी प्रकार लोकमंगलकारी तुलसी की कविता सरिता लोकभाषा (हिन्दी) में ही प्रवाहित हुयी उनके अनुसार

भाषा भनिति भूति भली कोई।
सुरसरि सम सबकर हित होई।।3

आधुनिक साहित्यकारों ने भी हिंदी के लोक सम्पृक्त स्वरूप को खूब पसंद किया है और निखारा भी है। निराला, नागार्जुन, पन्त, त्रिलोचन, दिनकर, नेपाली, मैत्रेयी पुष्पा, चित्रामुद्गल, नाषिरा शर्मा आदि ने लोक जीवन से जुड़ी हिंदी का भरपूर प्रयोग अपने साहित्य में किया है। भारतीय समन्वयवादी संस्कृति और समाज की पोषक हिंदी जनवादी मूल्यों की संपोषिका है। यही कारण है कि यह दिनोंदिन विस्तार पा रही है।

वस्तुतः लोकवाङ्मय हिंदी लोक सम्बल पाकर ही सबल बन रही है तथा निरंतर आगे बढ़ रही है। अन्यथा शासन प्रशासन का रूप इसके प्रति हमेशा उदासीन रहा है। साहित्य, संस्कृति और कला के उन्नयन हेतुशासन और सत्ता का गंभीर दायित्व होता है। भाषा से साहित्य बनता है और साहित्य समाज के धड़कन को सुनता और गुनता है। इस दृष्टि से हिंदी ने हमारे भारतीय समाज का बड़ा उपकार किया है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में – ''हिंदी साधारण जनता की भाषा है। जनता के लिए ही

उसका जन्म हुआ था और जब तक अपने को जनता के लिए काम की चीज बनाए रहेगी जनहित में आत्मबल का संचार करती रहेगी तब तक उसे किसी से डर नहीं है''।

लोक हितकारी हिंदी जन–जन के मन में रमी हुयी है। चाहे वह अनपढ़ गँवार हो या दिग्गज विद्वान, किसान, मजदूर, व्यवसायी सबकी जुबान बन गयी है हिंदी। यह किसी जाति विशेष, वर्ग विशेष व स्थान विशेष से भी प्रभावित नहीं है। इस सन्दर्भ में आचार्य श्री शिवपूजन सहाय का कथन द्रष्टव्य है– ''हिंदी भाषा में एक अद्भुत शक्ति है। यह हर एक श्रेणी के लोगों के दिल में घर कर सकती है। चाहें तो बड़े–बड़ें विद्वानों पर मोहिनी डाल दें, चाहें तो ठेठ देहाती किसानों को भी मुट्ठी में कर लें।''

दुर्भाग्य से आज विभिन्न क्षेत्रीय बोलियों हिंदी से इतर अपनी स्वतन्त्र सत्ता हेतु संघर्ष कर रही है। इससे हमारी भाषा और हमारे राष्ट्र दोनों की एकता प्रभावित होगी। हिंदी विरोधी कुचक्र का दुष्परिणाम यह होगा कि विश्व कवि तुलसी मात्र अवधी क्षेत्र के, सूरदास ब्रज क्षेत्र के, तथा विद्यापति मात्र मैथिल क्षेत्र के कवि बनकर रह जायेंगे। इस प्रकार हमारी राष्ट्र भाषा हिंदी का अतिलघुरूप राष्ट्रीय स्वाभिमान को आहत करेगा। हिंदी भारतीय आत्मा की प्रतीक है। इसने हिंदी बोलियों के शब्द ही नहीं वरन् क्षेत्रीय भाषाओं के शब्दों के अलावा विदेशी, लैटिन, फ्रेंच, पोर्टगिज, अंग्रेजी, आदि साम्राज्यवादी भाषाओं को आसानी से पचा लिया है। इसी से हिंदी के अनेक रूपों की चर्चा में राजभाषा, राष्ट्रभाषा, फिल्मीभाषा, संपर्क भाषा, दक्षिणी हिंदी, व्यावहारिक भाषा, अन्तर्राष्ट्रीय भाषा, व्यावसायिक भाषा आदि हमारे सम्मुख प्रत्यक्ष है। इसी से एक लोकोक्ति बन चुकी है–''हिंदी तेरे रूप अनेक'' जो भी हो, आज जनभाषा हिंदी जनसंचार के माध्यमों में छायी हुयी है। चाहे इंटरनेट पर सोसल नेट्वर्किंग, साईट, ओर्कुट, फेसबुक, ट्वीटर आदि हो, सभी जगह हिंदी ही हिंदी नजर आ रही है।

यह हिन्दी विश्व पटल पर अपनी आभा बिखेर रही है। डॉ0 सिंधवी ने कितना सटीक कहा है–

''कोटि– कोटि कंठों की भाषा,
जन–जन की मुखरित अभिलाषा
हिंदी है पहचान हमारी,
हिंदी हम सबकी परिभाषा''

अस्तु, लोकवाङ्मय हिंदी–लोकचेतना की अंतःस्रावित धारा है। यह राष्ट्रीय स्वाभिमान की भाषा है, यह राष्ट्रीय एकता का आधार है तथा राष्ट्रशक्ति की जननी है। हिंदी हमारी माँ है यह सृजन और चिंतन की भाषा है। हिंदी, हिंद की पहचान है यह हमारी सांस्कृतिक चेतना है। यह भारत की भारती है।

सन्दर्भ सूत्र–

1 नया भाषा भारती संवाद
प्रो0 कदम भगवान राम किशन राव

2 विनोद शर्मा
हिंदी वार्षिकी चतुर्थ अंक, शतलाभ
3 रामचरित मानस, बालकाण्ड
4 श्री बद्रीनारायण तिवारी मानस संगम–शिवाला कानपुर
5 आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी
विश्व भाषा हिंदीः संस्कृति और समाज

कमइ

तपस्वी महामना के जीवन की झलकियाँ

डॉ0 मंजु बनिक
एसोसिएट प्रोफेसर, अर्थशास्त्र विभाग, आर्य महिला पी0जी0 कालेज, वाराणसी

यह वर्ष भारत की महान विभूति महामना पं0 मदन मोहन मालवीय की 150वीं जन्म जयन्ती का वर्ष है। कृतज्ञ राष्ट्र इस जयन्ती को पुनीत श्रद्धा के साथ मनाने जा रहा है। महामना की महान कृति काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से जुड़े रहकर हम सभी एक विशेष प्रकार के गर्व का अनुभव करते हैं एवं असंख्य देशवासियों एवं प्रशंसकों के साथ इस असाधारण विभूति को अपने श्रद्धा सुमन अर्पित करते हैं।

महामना मदन मोहन मालवीय जी युग पुरुष थे। उन्होनें अपने जीवन काल में अनेक ऐसे कार्य किए, जिनसे देश और समाज का विकास एवं उत्थान हुआ।

अपने मानवीय गुणों एवं सार्थक सेवाओं के कारण ही वे महामना कहलाये। सामाजिक जीवन का कोई भी क्षेत्र उनसे अछूता नहीं रहा। जिन–जिन क्षेत्रों में उन्होंने कार्य किया, चाहे वह वकालत हो, या धर्म विषयक सेवा हो या फिर विस्तृत राजनीति, सभी क्षेत्रों को अपनी उपस्थिति से उन्होनें आदरणीय बनाया। यही कारण है कि महात्मा गाँधी जैसे महापुरुष ने भी स्वीकारा कि ''मैं तो मालवीय जी का पुजारी हूँ।''

उनके व्यक्तित्व के दो विशेष पहलू थे– एक व्यक्ति के रूप में उनकी महानता एवं दूसरा सार्वजनिक कार्यों में उनकी श्रेष्ठता। जनजीवन के विभिन्न क्षेत्रों में कार्य करते हुए शिक्षा क्षेत्र को अपनी सेवाओं का विषय बनाना शायद महामना की सर्वोच्च देन है।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना का उनका संकल्प समकालीन प्रबुद्धजनों को भी प्रारम्भ में केवल काल्पनिक ही लगता था। पर महामना ने न केवल इसे वास्तविक रूप दिया, बल्कि इसे ऊँचाइयों तक पहुंचाने की एक समुचित नींव भी उन्होंने प्रदान की। वे वस्तुतः एक मनुष्य निर्माता थे। उनके विचारों की प्रासंगिकता आज भी उतनी ही है जितनी उनके जीवन काल में थी।

भारत के प्राचीन गौरव की पुनर्स्थापना के लिए वे जीवन पर्यन्त संघर्षरत रहे। उनके जीवन मूल्य एवं आदर्श आज भी देश व समाज के लिए प्रकाश स्तम्भ के समान हैं। मानवता का धर्म उनके लिए सर्वोपरि था और उनके जीवन का मूलमंत्र था ''कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तितनाशनम्'' सभी देशवासियों के ह्रदय में तप, परोपकार, सद्भावना, एकता, देशप्रेम आदि गुणों के विकास से वे बिखरे हुए समाज को एक सूत्र में पिरोना चाहते थे। उन्होंने लगभग 60 वर्षों तक समाज एवं देश के बड़े–बड़े कार्यों का भार अपने कंधों पर लिया। वे देश के महानतम वाग्मी थे। महामना के जीवन की कुछ प्रमुख घटनाओं की झलकियाँ निम्नांकित क्रम में प्राप्त होती है –

जीवन झलकियाँ

1861 – 25 दिसम्बर, तद्नुसार पौष कृष्ण 8, सं0 1918 वि0 को सायं 6 बजकर 54 मिनट पर प्रयाग में जन्म। पिता का नाम पं0 ब्रजनाथ व्यास, माता श्रीमती मूना देवी।

1866 – पाँच वर्ष की आयु में पं0 हरदेव जी की धर्म ज्ञानोपदेश पाठशाला में शिक्षा आरम्भ। बाद में पं0 देवकी नन्दन जी की विद्या धर्म प्रविर्द्धिनी सभा में संस्कृत एवम् धर्म की शिक्षा ली।

1869 – आठ वर्ष की आयु में जनेऊ संस्कार।

1878 – सोलह वर्ष की अवस्था में मिर्जापुर निवासी पं0 नन्दलाल जी की कन्या कुन्दन देवी से विवाह।

1879 – म्योर सेन्ट्रल कालेज में प्रवेश।

1880 – एफ.ए. की परीक्षा उत्तीर्ण की। अपने गुरु पं0 आदितय राम भट्टाचार्य द्वारा प्रयाग में स्थापित संस्था 'हिन्दू समाज' में सक्रिय सहयोग दिया।

1882 – स्वदेशी व्रत लेकर प्रचार आरम्भ किया।

1883 – दिसम्बर, कलकत्ता विश्वविद्यालय से बी0ए0 परीक्षा उत्तीर्णकी।

1884 – इलाहाबाद जिला स्कूल में 60/– रूपये माह पर अध्यापक बन। पं0 आदित्य राम भट्टाचार्य द्वारा स्थापित 'मध्य हिन्दू समाज' के कार्यकर्ता बने। प्रयाग में 'हिन्दी उद्धारिणी सभा' प्रारम्भ की।

1885 – पं0 आदित्य राम भट्टाचार्य द्वारा प्रकाशित अंग्रेजी साप्ताहिक 'इन्डियन यूनियन' का सम्पादन किया।

1886 – दिसम्बर, कांग्रेस में सम्मिलित हुये। कलकत्ता में दादा भाई नौरोजी की अध्यक्षता में कांग्रेस के दूसरे अधिवेशन में कौंसिलों में प्रतिनिधित्व के प्रश्न पर ओजपूर्ण भाषण ने सबको मन्त्रमुग्ध कर दिया।

1887 – जुलाई में शिक्षण कार्य छोड़ा।

– कालाकांकर में 200/– रूपये प्रतिमाह पर राजा रामपाल सिंह के हिन्दी दैनिक 'हिन्दुस्तान' पत्र का सम्पादन कार्य प्रारम्भ किया।

– 'भारत धर्म महामण्डल' के महोपदेशक बने।

– 28 दिसम्बर, कांग्रेस के तीसरे अधिवेशन में व्यवस्थापिका सभाओं के विस्तार के प्रस्ताव का अनुमोदन किया।

1888 – 26 दिसम्बर, कांगेस के चतुर्थ अधिवेशन में प्रयाग में आयकर तथा कर सम्बन्धी प्रस्ताव का अनुमोदन किया।

1889 – 'हिन्दुस्तान' का सम्पादन छोड़ा।

– वकालत की पढ़ाई हेतु प्रयाग में म्योर सेन्ट्रल कालेज में प्रवेश लिया।

1890 – 26 दिसम्बर, कलकत्ता में कांग्रेस के छठे अधिवेशन में किसानों को कांग्रेस का सदस्य बनाने हेतु प्रस्ताव रखा। कौंसिल के कम से कम आधे सदस्यों को चुनने के

जनता के अधिकार संबंधी प्रस्ताव का जमकर समर्थन किया।

1891 – इलाहाबाद विश्वविद्यालय से एल0एल0बी0 की डिग्री प्राप्त की। जिला अदालत में वकालत प्रारम्भ की।

1892 – कांग्रेस के इलाहाबाद के अधिवेशन में सरकार की ऊँचे पदों पर भारतीयों को न भरती करने की नीति का विरोध किया।

1893 – प्रयाग उच्च न्यायालय में वकालत प्रारम्भ की।

– कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन में देश की बढ़ती निर्धनता के लिए सरकार को उत्तरदायी ठहराया।

1895 – कांग्रेस के पूना अधिवेशन में सरकार के बढ़ते हुय खर्चे की कड़ी आलोचना की।

1896 – कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में देश की निर्धनता तथा अकाल की स्थिति के लिए तत्कालीन ब्रिटिश राज्य की आलोचना की।

1897 – 27 दिसम्बर, अमरावती में कांग्रेस के तेरहवें अधिवेशन में, 'भारतीय व्यय पर राजकीय कमीशन' पर एक विस्तृत प्रस्ताव रखा।

1899 – 2 मार्च, न्यायालयों में देवनागरी–लिपि के प्रयोग के लिए तत्कालीन गवर्नर सर एन्टोनी मैकडानल को मेमोरेन्डम दिया और आन्दोलन चलाया।

1900 – 14 अप्रैल, न्यायालयों में हिन्दी में आवेदन पत्र स्वीकार करने सम्बन्धी राजज्ञा जारी कराने में सफल हो सके।

1902 – उत्तर प्रदेश विधान परिषद के सदस्य मनोनीत किए गये।

1903 – शिक्षा के क्षेत्र में पहला योगदान। छात्रावासों की कमी देखकर इलाहाबाद में 'हिन्दू बोर्डिंग हाउस' का निर्माण कराया।

1904 – काशी नरेश प्रभु नारायण सिंह की अध्यक्षता में वाराणसी में विश्व विद्यालय की योजना प्रस्तुत की।

1905 – कांग्रेस के बनारस अधिवेशन में प्रस्तावित विश्वविद्यालय की योजना का समर्थन किया गया।

1906 – 20–29 जनवरी, कुम्भ के अवसर पर प्रयाग में सनातन धर्म महासभा में उदार सनातन धर्म का प्रयार किया और काशी में भारतीय विश्वविद्यालय खोलने की घोषणा की।

– कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में स्वदेशी के प्रस्ताव पर भावपूर्ण भाषण दिया।

1907 – बसन्त पंचमी के दिन 'अभ्युदय' नामक साप्ताहिक हिन्दी पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ किया।

1907 – सितम्बर, नैनीताल में प्रान्तीय औद्योगिक कांफ्रेंस मे ंदेशी उद्योगों के ह्रास पर भाषण दिया।

1908 – 29 फरवरी, लखनऊ में प्रान्तीय राजनैतिक कांफ्रेंस के अध्यक्ष पद से तत्कालीन समस्याओं पर भाषण दिया।

1909 – 24, अक्टूबर, विजयदशमी के दिन प्रयाग में अंग्रेजी पत्र 'लीडर' का प्रकाशन

प्रारम्भ किया।

– दिसम्बर, लाहौर में कांग्रेस के 24वें अधिवेशन में कांग्रेस के अध्यक्ष बने। अपने अध यक्षीय भाषण में अंग्रेज सरकार की त्रुटियों की कड़ी आलोचना की एवम् आतंकवादी घटनाओं और राजनैतिक हत्याओं की जमकर भत्सर्ना की।

1910 – प्रयाग में 'मर्यादा' नामक साप्ताहिक हिन्दी पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ किया।

– 18 मार्च, गोपाल कृष्ण गोखले के प्रारम्भिक शिक्षा को अनिवार्य एवम् निःशुल्क बनाने के प्रस्ताव का समर्थन किया।

– 10 अक्टूबर, वाराणसी में प्रथम हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति बने।

1911 – 15 जुलाई, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की संशोधित योजना एक करोड़ रूपये की अपील के साथ निकाली।

– 28 नवम्बर हिन्दू यूनिवर्सिटी सोसाइटी का गठन हुआ।

1912 – कांग्रेस के पटना अधिवेशन में तत्कालीन ज्वलन्त विषय–भारतीयों की दक्षिण अफ्रीका में स्थिति पर भाषण से श्रोताओं को अश्रुपूर्णकिया।

1015 – 1 अक्टूबर, बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी बिल पारित हुआ।

1916 – 18 जनवरी, लखनऊ में शिक्षा सम्मलेन में भाग लिया।

– 2 फरवरी, प्रतिज्ञाबद्ध कुली प्रथा के विरुद्ध कौंसिल में प्रस्ताव रखा।

–4 फरवरी, बसन्त पंचमी के चार दिन पूर्व तत्कालीन वायसराय लार्ड हार्डिन्ग की सुविध ाानुसार काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का शिलान्याय सम्पन्न कराया जबकि उक्त समारोह 8 फरवरी बसन्त पंचमी के दिन ही प्रस्तावित था।

–इन्डस्ट्रीयल कमीशन के सदस्य की हैसियत से उसके काम में योगदान दिया।

1917 – 10 जुलाई, भारत सेवक–समिति के तत्वावधान में देशवासियों का संगठित स्वराज्य–आन्दोलन करने का आहवान किया।

–8 अक्टूबर, इलाहाबाद होमरूल लीग की एक सभा में ओजस्वी भाषण दिया।

1918 – प्रयाग में अखिल भारतीय सेवा समिति बॉय स्काउट असोसिएशन की स्थापना की एवम् मुख्य स्काउट बने।

– दिल्ली में कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन में पुनः अध्यक्ष बने।

– इण्डस्ट्रीयल कमीशन की रिपोर्ट पर असहमति व्यक्त करते हुए एक विस्तृत टिप्पणी लिखी।

1919 – 6 फरवरी, रौलेट बिल पर कांग्रेस में बहस की।

– 4 अप्रैल, कौंसिल से त्याग–पत्र दिया।

– 19 अप्रैल, बम्बई में नवम् हिन्दी साहित्य सम्मेलन की अध्यक्षता की।

– 2 जून, कौंसिल में पुनः निर्वाचित हुए।

– 18 सितम्बर, केन्द्रीय कौंसिल में क्षमा विधेयक बिल का विरोध किया।

1922 – राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व किया। राष्ट्रीय सप्ताह 6–13 अप्रैल उत्तरी भारत की यात्रा की और गांधी जी के कार्यक्रमों का अनुसरण करने हेतु लोगों का आह्वान किया।

1922 – 16 सितम्बर, लाहौर में हिन्दू मुस्लिम सौहार्द पर भाषण दिया।

– 31 दिसम्बर, गया में हिन्दू महासभा के विशेष अधिवेशन की अध्यक्षता की।

1923 – चौरी–चौरा काण्ड के 170 अभियुक्तों की इलाहाबाद उच्च न्यायालय में पैरवी कर 151 अभियुक्तों को फांसी से बचाया।

1924 – अर्धकुम्भ के अवसर पर संगम में स्नान पर लगे प्रतिबन्ध के विरोध में सत्याग्रह किया।

– 27, 28 दिसम्बर, हिन्दू महासभा के बेलगाँव में सम्पन्न अधिवेशन की अध्यक्षता की।

– 'हिन्दुस्तान टाइम्स' की प्रबन्ध समिति के अध्यक्ष बने।

1925 – 18–31 मार्च, लखनऊ में सम्पन्न अवध हिन्दू सम्मेलन की अध्यक्षता की।

– बिहार प्रान्तीय हिन्दू सभा की अध्यक्षता की।

1926 – अगस्त, लाला जालपत राय के साथ कांग्रेस इन्डिपेन्डेन्ट पार्टी की स्थापना की।

1927 – 12 फरवरी, पंजाब प्रान्तीय हिन्दी सम्मेलन की अध्यक्षता की।

– 29 मार्च, भरतपुर, राजस्थान में हिन्दी साहित्य सम्मेलन में भाग लिया। खादी प्रदर्शनी का उद्घाटन किया।

– शिवरात्रि के दिन काशी में दशाश्वमेध घाट पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवम् शूद्रों को एक साथ मन्त्री दीक्षा देकर हिन्दू समाज पर लगे अस्पृश्यता के कलंक को समाप्त करने का सन्देश दिया।

– असेम्बली में सरकार द्वारा प्रस्तुत मुद्रा विधेयक, रिजर्व बैंक विधेयक तथा पब्लिक सेटी बिल का विरोध, सेना के भारतीयकरण की मांग और ब्रिटिश सरकार की सेनानीति की कड़ी आलोचना की।

– नवम्बर, साइमन कमीशन की नियुक्ति पर बहिष्कार की घोषणा की।

1928 – 6 जनवरी, कलकत्ता में पुनः हिन्दुओं को मन्त्र दीक्षा दी जिसमें रूढ़िवादियों द्वारा अस्पृश्य कहे जाने वाले शूद्रों को भी सम्मिलित किया।

– 31 अक्टूबर, साइमन कमीशन के विरोध के जुलूस का लाला लाजपत राय के साथ नेतृत्व किया।

– मार्च, कलकत्ता में गो सम्मेलन में भाग लिया।

– अप्रैल, जबलपुर में अनाथालय की नींव रखी।

– अगस्त, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में खादी भण्डार का उद्घाटन किया।

1929 – जून, स्वराज्य के सम्बन्ध में तत्कालीन वाइसराय को पत्र लिखा।

– अखिल भारतीय विद्यार्थी कांग्रेस के उद्घाटन सत्र के सभापति बने।

– 14 दिसम्बर, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के दीक्षान्त भाषण में विद्यार्थियों को देशसेवा और राष्ट्रीयता का उपदेश दिया।

1930 – कुम्भ मेले में भगवद्गीता प्रदर्शनी का उद्घाटन किया।
– 27 जनवरी, भारतीय गीता सम्मेलन के उद्घाटन सत्र के सभापति बने।
– मार्च, असेम्बली में टैरिफ बिल का विरोध किया।
–2 अप्रैल, असेम्बली से त्यागपत्र दिया।
– 31 जुलाई, बम्बई में हंसा मेहता के नेतृत्व में बाल गंगाधर तिलक की पुण्य तिथि के अवसर पर निकाले गये जुलूस में शामिल औरा गिरतार हुए।
– 20 अगस्त, दिल्ली में कांग्रेस वर्किंग कमेटी के सदस्यों के साथ गिरतारी हुई।
1931 – 29 अगस्त, एम.एस. राजपुताना जहाज से द्वितीय गोलमेज कांफ्रेस में भाग लेने हेतु महात्मा गांधी और सरोजिनी नायडू के साथ लन्दन के लिए रवाना।
– 12 सितम्बर, लन्दन पहुंचे।
1931 – 15 सितम्बर, गोलमेज कान्फ्रेन्स के दूसरे अधिवेशन में गांधी जी के साथ भाग लिया। पूर्ण स्वतन्त्रता, संघीय व्यवस्था, व्यस्क मताधिकार एवम् लोक सेवाओं की जमकर वकालत की।
1932 – 29, जनवरी, गांधी जी के सविनय अवज्ञा आन्दोलन के प्रति ब्रिटिश सरकार की दमनकारी नीति पर तत्कालीन वायसराय को चेतावनी भरा पत्र लिखा।
– मार्च, वाराणसी में अखिल भारतीय स्वदेशी संघ की स्थापना की और उसके संस्थापक अध्यक्ष बने।
– 19 अप्रैल, नई दिल्ली में आयोजित कांग्रेस के सैंतालिसवें अधिवेशन हेतु तीसरी बार अध्यक्ष मनोनीत, किन्तु उक्त अधिवेशन में जाते समय यमुना पुल पर गिरतार।
– 1 मई, जेल से रिहा।
– 24 सितम्बर, साम्प्रदायिक निर्णय के विरोध में गांधी जी के अनशन की समाप्ति पर हुए समझौते 'पूना पैक्ट' के प्रथम हस्ताक्षरकर्ता।
– 25 सितम्बर, बम्बई के अन्त्यजोद्वार पर हिन्दू नेताओं की सभा की अध्यक्षता की।
– 30 सितम्बर, बम्बई में अन्त्यजोद्वार पर आयोजित विशाल जनसभा की अध्यक्षता की जिसमें अस्पृश्यता निवारण पर प्रस्ताव पारित किया गया।
– नवम्बर/दिसम्बर, प्रयाग में एकता कांफ्रेस आयोजित की।
1933 – 31 मार्च, ब्रिटिश सरकार द्वारा प्रतिबन्धित कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन हेतु चौथी बार पुनः अध्यक्ष मनोनीत किन्तु उक्त अधिवेशन में भाग लेने जाते समय प्रातः 3 बजे आसनसोल में गिरतार।
–31 मार्च, कलकत्ता के कांग्रेस अधिवेशन में महामना का अध्यक्षीय भाषण पढ़ा गया जिसमें सविनय अवज्ञा आन्दोलन का पुरजोर समर्थन एवम् ब्रिटिश सरकार द्वारा सुध ाारों पर निकाले गये 'व्हाइट पेपर' का बेबाक विरोध किया गया।
1933 – 3 अप्रैल, जेल से रिहा।
– 20 जुलाई गुरु पुर्णिमा के अवसर पर साप्ताहिक 'सनातन धर्म' का सम्पादन उनके

संरक्षण में आरम्भ हुआ।
1934 – 14 जनवरी, उत्तरी भारत विशेषकर बिहार में आये भीषण भूकम्प से पीड़ित लोगों की सहायतार्थ महत्वपूर्ण कार्य किया।
– कांग्रेस वर्किंग कमेटी द्वारा निर्णय कि वह साम्प्रदायिक निर्णय को न स्वीकार करती है और न रद्द करती है मालवीय जी और एम0एस0 अणे का विरोध और इस्तीफा।
– 18–19 अगस्त, एम0एस0 अणे के साथ नेशनलिस्ट पार्टी का गठन।
– आगरा हिन्दी साहित्य सम्मेलन के मुख्य वक्ता (Guest of Honour) बने।
1935 – 23 फरवरी, दिल्ली में साम्प्रदायिक निर्णय विरोधी कांफ्रेस आयोजित की।
– 28 दिसम्बर, कांग्रेस के स्वर्ण जयन्ती अवसर पर बम्बई में स्मारक का शिलान्यास किया।
– 29 दिसम्बर, पूना में अखिल भारतीय हिन्दू महासभा में अध्यक्ष पद से तत्कालीन समस्याओं–स्वराज्य, विद्या प्रचार, हिन्दू–मुस्लिम एकता, छुआ–छूत पर भाषण दिया।
1936 – अर्धकुम्भ के अवसर पर प्रयाग में सनातन धर्म महासभा के अधिवेशन का सभापतित्व किया और अन्त्यजोद्धार पर प्रस्ताव रखा।
– 15 मार्च, नासिक में पिंगरपोल के मैदान में गोरक्षा सम्बन्धी व्याख्यान दिया।
– 26–29 दिसम्बर, गांधी जी के अनुरोध पर रूग्णावस्था में फैजपुर मे अन्तिम बार कांग्रेस अधिवेशन में उपस्थित, ओजस्वी भाषण द्वारा सभा को सम्बोधित किया।
1937 – 5 जनवरी, हिन्दी तिथि के अनुसार 76वाँ जन्मदिन हर्षोल्लास के साथ सम्पन्न हुआ।
1937 – 15 दिसम्बर, इलाहाबाद विश्वविद्यालय स्वर्ण जयन्ती वर्ष के उपाधि वितरण समारोह को सम्बोधित किया।
1938 – 16 जनवरी–25 फरवरी, कायाकल्प।
– दिसम्बर, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में राजनीतिक विज्ञान सम्मेलन में भावपूर्ण भाषण में नवयुवक, नवयुवतियों का देश की स्वतन्त्रता के लिये काम करने को आह्वान किया।
1939 – 20 अगस्त, शारीरिक अस्वस्थता के कारण त्यागपत्र देकर विश्वविद्यालय की सक्रिय सेवा से अवकाश लिया।
– 17 सितम्बर, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के कोर्ट से त्यागपत्र स्वीकार किया एवं मालवीय जी के प्रस्ताव पर डा0 सर्वपल्ली राधाकृष्णन कुलपति नियुक्त हुये।
– नवम्बर, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के आजीवन रेक्टर बने।
1942 – 21 जनवरी, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के रजत जयन्ती समारोह में गाँधी जी और डॉ0 राधाकृष्णन द्वारा मालवीय जी की प्रशस्ति, भारतीय विश्वविद्यालयों के अतिरिक्त अनेक विदेशी विश्वविद्यालय यथा, केम्ब्रिज, आक्सफोर्ड, लन्दन, एडिन्बर्ग और ग्लेसगो भी सम्मिलित हुए।
– पत्नी श्रीमती कुन्दन देवी का निधन हुआ।

– भारत छोड़ो आन्दोलन – मालवीय जी द्वारा पीड़ितों की सहायता।
1943 – बंगाल में अकाल पीड़ितों की सहायता की।
– 25 अक्टूबर, वसीयत लिखी।
1946 – नोआखली के भीषण एवम् निर्मम् हत्याकाण्ड से व्यथित देशवासियों को धर्म की रक्षा के लिए एक रहने का आह्वान किया।
– 12 नवम्बर, तदनुसार मार्गशीर्ष कृष्ण 3, सं0 2003 वि0 को महाप्रयाण।

सन्दर्भ

मूल्य विमर्श, प्रकाशक	–	मालवीय मूल्य अनुशीलन केन्द्र–2011
वर्मा, विद्युत	–	महामना चिन्तन आलोक प्रकाशक : महामना मालवीय मिशन–2001
तिवारी, उमेश दत्त	–	महामना के प्रेरक प्रसंग, 2004
तिवारी, उमेश दत्त	–	महामना के भाषण, 2004

क्या साहित्य–सिद्धान्त का कोई वर्गीय आधार होता है

डॉ० वीना सुमन

असिस्टेन्ट प्रो0, हिन्दी विभाग, आर्य महिला पी0जी0 कालेज, चेतगंज, वाराणसी

आजकल कई लोग साहित्य–सिद्धान्त–सिद्धांतों को अनुपयोगी मानने लगे हैं क्योंकि साहित्य तेजी से बदल रहा है। हम एक प्रकार के साहित्य को ही नहीं संभाल पाते कि दूसरे प्रकार का साहित्य आ जाता है। इस तीव्र परिवर्तन का कारण सूचनात्मक ज्ञान के तीव्र प्रसार का दबाव है जो कि तेजी से बदलते हुए समाज का परिणाम है। स्पष्ट है कि समाज के बदलने के साथ साहित्य बदलता है और साहित्य के बदलने के साथ साहित्य–सिद्धान्त। इसलिए यह मानने में किसी को संकोच नहीं होना चाहिए कि हरेक सिद्धांत का कोई न कोई सामाजिक और वर्गीय आधार होता ही है।

मुक्तिबोध ने कहा था कि– ''एक कला–सिद्धांत के पीछे एक विशेष जीवन–दृष्टि हुआ करती है, उस जीवन–दृष्टि के पीछे एक जीवन–दर्शन होता है और उस जीवन–दर्शन के पीछे, आजकल के जमाने में, एक राजनैतिक दृष्टि भी रहती है।''(1)

यही कारण है कि जब हम किसी सिद्धांत को, बिना उसके सामाजिक संदर्भ के पढ़ते हैं तो हमें कुछ भी नहीं समझ में आता। मार्क्सवाद हो या अस्तित्ववाद–जब तक उस सिद्धांत के सामाजिक या वर्गीय आधारों की पहचान नहीं की जाएगी, वह हमें समझ में नहीं आएगा।

प्रत्येक सिद्धांतकार अपनी स्वयं की एक विशेष सामाजिक दृष्टि रखता है, जिसके आधार पर वह पुराने सिद्धांतों का विरोध करता है और अपने सिद्धांत को प्रतिष्ठित करता है। इस बात को हम प्लेटो और अरस्तू के कला– सिद्धान्तों के सामाजिक आधारों की जांच करके आसानी से समझ सकते हैं।

प्लेटो के समय (428–327 ई0पू0) में एथेंस की राजनैतिक स्थिति अच्छी नहीं थी। 27 वर्षो तक चले पैलोपनेशियन युद्ध में स्पार्टा के हाथों एथेंस की पराजय ने उसकी (एथेंस की) राजनैतिक और सामाजिक व्यवस्था को छिन्न–भिन्न कर दिया था। ऐसी स्थिति में प्लेटो काव्य और कला को शौर्य के विकास में बाधक मानकर उन्हें अपने 'आदर्श–राज्य' से बहिष्कृत करता है। यद्यपि देवस्तोत्रों तथा महापुरूषों के आख्यानों का वह स्वागत करता है। उसका आक्रोश मुख्यतः दुःखांतकों पर है जो रोने–धोने, कलह और मसखरेपन के प्रदर्शन के कारण समाज को कमजोर बनाते हैं।

चूंकि कमजोर समाज अपनी स्वतंत्रता की रक्षा नहीं कर सकता, इसलिए वैसा कलाकार राज्य में रहने का अधिकारी नहीं है जो जनता में पौरूष जगाने के बदले कायरता फैलाता हो।

अरस्तू का जन्म पैलोपनेशियन युद्ध के 20 वर्षों बाद (384 ई0पू0) में हुआ। उसके होश संभालने तक एथेंस की स्थिति सुधर चुकी थी और पराजय के दंश की तीव्रता भी कम हो चुकी थी। इसलिए अरस्तू ने विशुद्ध साहित्यिक व वस्तुगत दृष्टिकोण से दुःखों तक का विश्लेषण किया। उसने कहा की जो कार्य प्रकृति से अनिष्पादित रह जाते हैं, उन्हें कला पूरा करती है। अतः उसकी हमेशा जरूरत रहती है।

जहां प्लेटो काव्य की सामाजिकता उसकी नैतिक उन्नयन की क्षमता में देखता है, वहां अरस्तू उसकी आनंद प्रदान करने की क्षमता में। यहां यह स्पष्ट है कि कैसे अलग–अलग सामाजिक आधार अलग–अलग सिद्धांतों की निर्मिति में सहायक बनते हैं।

''साहित्य का अध्ययन एक प्रकार से मानव सत्ता का अध्ययन है''(2) मुक्तिबोध का यह कथन स्पष्ट करता है कि कोई भी सिद्धांत जो साहित्य के अध्ययन में मदद करेगा, वह अनिवार्यतः मानव–सत्ता के अध्ययन की तैयारी भी पूरी करके आएगा। यह तैयारी तभी पूरी होगी जब कि उसका कोई सामाजिक आधार होगा। दरअसल किसी भी साहित्यिक पाठ को अर्थ अचानक नहीं मिल जाता है। उस पर समीक्षक की वर्गीय स्थिति का अनिवार्य प्रभाव पड़ता है। इसीलिए जो सिद्धांतकार अपने समय–समाज की ज्यादा ठोस पहचान रखेगा, वह ज्यादा ठोस सिद्धांत का निर्माण कर सकेगा।

रचना जीवन की पुनर्रचना है और आलोचना के सिद्धांत रचना की पुनर्रचना में सहायक बनते हैं। परन्तु कला का सत्य पूरा सामाजिक सत्य नहीं होता है अर्थात् रचना में समाज यांत्रिक ढंग से नहीं आता है। इसलिए सिद्धांतकार को अपनी परिवृत्ति की (कलाकार से) ज्यादा सही समझ विकसित करनी पड़ती है। उसे एक साथ ''जीवन के वास्तविक अनुभवों के समुद्र में डूबना पड़ता है और उससे उबरना भी पड़ता है कि जिससे समुद्र की लहरों का पानी उसकी आंखों में न घुस पड़े।''(3)

वास्तविक जीवन की शक्ति के अभाव में सिद्धांत पंत और निराला के बिंबों में अंतर नहीं कर पाएगा; क्योंकि वह उनकी प्रेरणा–भूमि को नहीं समझेगा। ऐसा तब भी होता है, जब सिद्धांतों का आयात किया जाता है। उदाहरण के लिए 'अस्तित्ववाद' और 'उत्तर–आधुनिकता' के सिद्धांतों का भारतीय समाज के संदर्भ में कोई अर्थ नहीं है, यद्यपि जहाँ वे उपजे हैं वहां उनका सामाजिक और वर्गीय आधार बहुत स्पष्ट रूप में विद्यमान है। हमारे यहां न द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद का त्रास था, ना मृत्यु का आतंक, इसलिए 'अस्तित्ववाद' की कोई जरूरत न थी। ठीक उसी प्रकार, हमने अभी ठीक से औद्योगीकरण भी नहीं किया है इसलिए हमें 'उत्तर–आधुनिकता' की भी

जरूरत नहीं है।

सामाजिक आधार के बिना सिद्धांतों के आयात से समीक्षा का पतन होता है, जिसकी ओर मुक्तिबोध ने भी इशारा किया था– ''वास्तविक जीवन की संवेदनात्मक समीक्षा–शक्ति की दुर्बल मनः स्थिति का ही यह परिणाम है कि समीक्षा कभी साहित्य के पीछे–पीछे चलने लगती है, या उसके नेतृत्व के जोश में मीलों आगे बढ़ जाती है। किन्तु उसका हाथ पकड़कर, उसके साथ–साथ चलते हुए, उसको मार्ग नहीं बताती।''(4)

पीछे चलने वाली समीक्षा का उदाहरण छायावाद के अधिकांश आलोचक प्रस्तुत करते हैं और मीलों आगे चलने वाली समीक्षा का उदाहरण अधिकांश प्रगतिवादी आलोचक प्रस्तुत करते हैं। छायावादी आलोचक छायावादी मनोवृत्ति के उत्पन्न होने का कारण बताने की बजाय उसका भावुक विश्लेषण करते रहे हैं तो प्रगतिवादी आलोचक बांधे–बंधाए ढर्रे पर नई पीढ़ी के रचनाकारों का भी मूल्यांकन करते रहे हैं। जब उस पीढ़ी ने अपनी अनुभूत निराशा, उदासी, प्रणय भावना आदि का वर्णन किया तो उन्हें आत्मबद्ध और कुंठित कहा गया। इससे लेखकों को कोई लाभ नहीं मिलता है।

बर्गसां ने कहा था– ''भाषा अनुभूति के निर्वेयक्तिक रूप को ही पकड़ सकती है। अतः व्यक्तिवाचक संज्ञाओं को छोड़कर सभी शब्द जातिवाचक ही होते हैं।''(1) इस बात से स्पष्ट है कि जो शब्द को ही रचना का पहला और अंतिम सत्य मानते है। उन्हें भी यह मानना होगा कि शब्द को अर्थ समाज देता है, इसलिए जब भी शब्द के साहित्य के लिए सिद्धांत का निर्माण होगा तो उसके पीछे सामाजिक आधार अवश्य होगा। दरअसल कोई भी सिद्धांत किसी विचारधारा की देन होता है और वह विचारधारा किसी न किसी वर्ग से जुड़ी होती है क्योंकि विचारक या सिद्धांतकार अंततोगत्वा किसी न किसी वर्ग से जुड़ा होता है (वह आसमान से नहीं टपकता है)। इस प्रकार स्पष्ट है कि सिद्धांत किसी न किसी सामाजिक या वर्गीय आधार पर टिके होते हैं। इसलिए सामाजिक परिवर्तन के साथ सिद्धांत भी बदलते रहते हैं।

मार्क्सवादी साहित्य–सिद्धांत का वर्गीय आधार एकदम स्पष्ट है। वह असमान सामाजिक–संरचना में शोषक वर्ग के बरक्स शोषित वर्ग के साथ खड़े होकर अपने वर्गीय आधार की एकदम स्पष्ट घोषणा करता है। इसी प्रकार दलित साहित्य के सिद्धांत भी जोरदार ढंग से यह प्रमाणित करते हैं कि साहित्य–सिद्धांत का कोई न कोई वर्गीय आधार अवश्य होता है। यदि आप इन सिद्धांतों के वर्गीय आधार को हटा देंगे तो वे धराशायी हो जायेंगे।

सन्दर्भ

1. मुक्तिबोध रचनावली, भाग–5, पृष्ठ–44
2. मुक्तिबोध रचनावली, भाग–5, पृष्ठ–44
3. मुक्तिबोध रचनावली, भाग–5, पृष्ठ–83, मुक्तिबोध का कथन।
4. बही, पृष्ठ–85
5. बर्गसां का कथन, डॉ0 रतन कुमार पाण्डेय द्वारा संपादित पुस्तक 'साहित्य,

श्री अरविन्द दर्शन और कविवर सुमित्रानंदन पंत

डॉ० मीनू अवस्थी

सहायक प्रोफेसर, हिन्दी, विभाग वसंत महिला महाविद्यालय, राजघाट फोर्ट, वाराणसी।

पं0 सुमित्रानंदन पंत प्रकृति एवं सौन्दर्य के अनुपम चितेरे हैं। उन्होंने भारतीय संस्कृति को जिस दृष्टिकोण से देखा–परखा और समझा है, वह उन्हें संतों की श्रेणी में पहुँचा देता है। पंत की प्रकृति बाल्यकाल से ही जिज्ञासु, चिन्तनशील थी इसका प्रभाव उनकी रचनाओं में परिलक्षित होता है। उनकी आरम्भिक कृति 'हार' में उनकी ब्रह्म, सृष्टि, जगत एवं सौन्दर्यविषयक जो जिज्ञासाएँ प्रकट हुईं वह उनकी परवर्ती रचनाओं में विकसित होती गई और अन्ततोगत्वा इन जिज्ञासाओं का पूर्ण एवं उचित समाधान उन्हें श्री अरविन्द–दर्शन में प्राप्त हुआ, वे लिखते हैं– ''श्री अरविन्द को मैं इस युग की अत्यन्त महान तथा अतुलनीय विभूति मानता हूँ। उनके जीवन–दर्शन से मुझे पूर्ण संतोष प्राप्त हुआ है।[1] पंत पर श्री अरविन्द के दार्शनिक विचारों का प्रभाव उनके सम्पूर्ण काव्य में दृष्टिगोचर होता है। पंत ने 'सर्वात्मवाद' के सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए सुख–दुःखादि अनुभूतियों में ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति को स्वीकार किया है–

''जग जीवन में उल्लास मुझे
नव आशा नव अभिलाष मुझे
ईश्वर पर चिर विश्वास मुझे।''[2]

पंत ने श्री अरविन्द के दर्शनानुरूप इस मान्यता का पूर्ण अनुसरण किया है जिसमें कहा गया है कि शक्तिरूपा माँ भगवती ही ब्रह्म की शक्ति है और जो उसे क्रियावान बनाती हैं[3]–

''उमा,
जगन्माता तुम, श्री तुम,
विश्व प्रेयसी
भूजन को सित प्रेम दृष्टि दो
पूर्ण 'अखण्ड' समग्र दृष्टि दो!''[4]

महर्षि अरविन्द के मतानुसार सृष्टि–विस्तार के लिए ब्रह्म मूलतः पुरुष एवं प्रकृति दो रूप धारण करता है। जिसमें पुरुष ही ईश्वर और अंशी रूप में विद्यमान है। वही अंश रूप में जन्म ग्रहण करता है। पंत ने भी इसी तथ्य का समर्थन करते हुए जीव का आत्म तत्त्व ईश्वर को ही स्वीकार किया है–

''तुम बाधा विघ्नों में ही बल,
जीवन के तम में चिर भास्वर,
असफलताओं में इष्ट सिद्धि,
तुम जीवों में ही हो ईश्वर।''[5]

पंत ने श्री अरविन्द द्वारा वर्णित ब्रह्म के निर्गुण एवं सगुण रूपों को यथावत ग्रहण किया है वे 'गुंजन' में लिखते हैं–

''तुम्हारा ही अशेष व्यापार,
हमारा भ्रम, मिथ्या होकर,
तुम्हीं में निराकार साकार,
मृत्यु जीवन सब एकाकार।''[6]

सगुणवादी दार्शनिकों ने ब्रह्म को शक्तिमान और माया को उसकी शक्ति माना है। श्री अरविन्द ने इस विचारधारा में अपनी पूर्ण आस्था व्यक्त की है। पंत ने भी प्रकृति को ब्रह्म की आदिशक्ति माना है–

''आदि शक्ति सी नित नव स्वयं प्रकाशित।''[7]
''परा शक्ति तुम निखिल भुवन में व्यापक।''[8]

प्रस्तुत उदाहरणों में पंत ने प्रकृति चेतना को ही 'मातृ चेतना' मानकर सृष्टि के रहस्य की ओर इंगित किया है।

अपूर्णता से पूर्णता की ओर अग्रसर होना 'आरोहण' और इसके विपरीत अर्थात् अतिमन, मन, प्राण और अन्न की ओर अग्रसर होना 'अवरोहण' कहलाता है।

महर्षि अरविन्द ने इन्हीं सोपानों को ब्रह्म अभिव्यक्ति माना है और इसी अपूर्णता से पूर्णता की ओर अग्रसर होना अरविन्द दर्शन का उद्देश्य भी है।[9]

कविवर सुमित्रानंदन पंत ने इसी मत का अनुसरण करते हुए अन्न, प्राण, मन, विज्ञान एवं आनन्द को ब्रह्म कहकर उसे सच्चिदानन्द रूप में अभिव्यक्त किया है–

''अन्न री ब्रह्म, जिसमें भव उद्भव स्थिति लय,
प्राण ही ब्रह्म, जो महत् अन्न का आश्रय।
मन ब्रह्म–उभय ही अन्न प्राण का आलय,
विज्ञान ब्रह्म, जो इन सबका महाशय![10]

''लोकायतन' में पंत 'ब्रह्म' को इस प्रकार वर्णित करते हैं–

''एक सत् चित् आनन्द प्रकाश,।
निखिल अंग जग जीवन में व्यक्त।।[11]

इस प्रकार पंत द्वारा वर्णित ब्रह्म श्री अरविन्द द्वारा वर्णित ब्रह्म के निकट है। और वह ब्रह्म परम, सनातन, अनन्य आनन्दमय प्रकृति की आद्यशक्ति सृष्टि का मूल एवं सच्चिदानन्द स्वरूप है।

'जीवात्मा' के सन्दर्भ में श्री अरविन्द का विचार है कि जीव और जीवात्मा

समानार्थी है।[12] पंत ने भी ब्रह्म और जीव की एकता का प्रतिपादन श्री अरविन्द दर्शन के अनुसार करते हुए लिखा है :–

तुम असीम के अंश, अंश क्षण बिन्दु तुम्हारा,
भूमा ही थी सार्थकता में, सार्थक अग जग सारा।[13]

श्री अरविन्द ने मूलतः सत्य को ही आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया है।14 पंत ने भी आत्मा को सत्य के विविध रूपों में रूपांकित किया है–

एक हो रहा धन्य आज भव धाम,
सत्य एक ही– विविध रूप गुण नाम।[15]

पंत की 'जीवात्मा' सम्बन्धी विविध दार्शनिक मान्यताएँ उपनिषद एवं गीता से प्रभावित होते हुए भी श्री अरविन्द दर्शन के ही अधिक निकट है। यदा–कदा तो उन्होंने श्री अरविन्द की ही शब्दावली का यथावत प्रयोग किया है।

'जगत' के संदर्भ में पंत की विचारधारा पहले उपनिषदों से प्रभावित थी किन्तु बाद में श्री अरविन्द की विचारधारा से अनुप्राणित हुई– ''यह दृश्यमान जगत ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति है। जगत भी उतना ही सत्य है जितना ब्रह्म।''[16] इसके अनुरूप पंत भी जगत को मिथ्या मानते हुए उसे ब्रह्म रूप में व्यक्त करते हैं–

''मिथ्या न जगत् वह ईश्वर का घर आँगन।''[17]

श्री अरविन्द ने 'जगत्' को 'आध्यात्मिक–परिणति' बताया है जिसका पंत अक्षरशः अनुपालन करते हुए दिखाई देते हैं–

''मानव आत्मा के जीवन हित
निर्मित यह जग–प्रकृति नहीं बाधक।''

अतिमानव की कल्पना– योगिराज श्री अरविन्द की 'अतिमानव' या 'अतिमानस' सम्बन्धी कल्पना नितान्त मौलिक है। इस संदर्भ में वह स्वयं कहते हैं–

''सुपर माइण्ड'' अर्थात् अतिमानस और 'सुपर मेंटल' अर्थात् अतिमानसिक ये शब्द सबसे पहले मैंने ही प्रयुक्त किये थे।''[18]

श्री अरविन्द ने जीवात्मा को ही अतिमानस कहा है और अतिमानस की प्रक्रिया द्वारा परम चेतन शक्ति जीवन एवं जगत ईश्वरीय दिव्यता में परिणति करती है। श्री अरविन्द की 'अतिमानव' की स्थिति तक सामान्य जन को लाने की प्रक्रिया शनैः–शनैः आगे बढ़ती है। श्री अरविन्द के दर्शन में भौतिकता एवं अध्यात्म का सुन्दर समन्वय है। इसी समन्वयात्मक अध्यात्म द्वारा मनुष्य का सर्वांगीण विकास संभव है और 'पूर्ण मानव' की तलाश में यही एक मात्र साधन है जिसमें मानव वैयक्तिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक रूप से पूर्णता प्राप्त कर सकता है। पंत ने इसी परिकल्पना को अपनी 'चौथी भूख' शीर्षक कविता में सार्थक किया–

किन्तु ऊपर हो कि भीतर
मनोगोचर या अगोचर

क्या नहीं कोई कहीं ऐसा अमृत धन
जो धरा पर बरस भर दे भव्य जीवन?
जाति वर्गों से निखर जन
अमर प्रीति प्रतीत में बंध
पुण्य जीवन करें यापन
औ धरा हो ज्योति पावन।[19]

उपरोक्त उदाहरण में तन–मन की भूख से ऊपर आत्मा और अमृतघन की भूख को स्वीकार करते हुए आत्मा की भूख को मन में विलय करके पूर्ण संतुष्टि एवं शांति का अनुभव किया गया है। यहाँ पर अमृत–धन की भूख द्वारा भौतिकता और आध्यात्मिकता का समन्वय करा कर धरा (मानव) को पावन ज्योति प्रदान की गई है।

श्री अरविन्द ने 'अमृत्व प्राप्ति' की प्राचीन अवधारणा को समग्र अर्थ में ग्रहण किया है। उनके अनुसार इस अमृत्व तत्व की प्राप्ति किसी और लोक में नहीं होनी है। अपितु विकास क्रम दिव्य–जीवन का अवतरण यहीं पर सम्भव है। इस दिव्य जीवन में व्यक्ति का सर्वांगीण विकास हो जाता है और भू पर ही स्वर्ण अवतरण हो जाता है। पंत भी इसी सिद्धान्त का अनुमोदन करते हुए लिखते हैं–

''सृजन करो नूतन मन!
प्रार्थी आज मनुज आत्मज मन,
नव्य चेतना का भू पर,
जिसकी स्वर्णिम आभा में नव
विकसित हो संस्कृत जीवन
प्रार्थी आज निखिल मानवता
उठे मृत्यु से वह ऊपर
स्वर्ण शांति में एक्य मुक्ति का
भू पर स्वर्ग उठे शोभन।''[20]

धरा पर ही मनुष्य का मुक्ति से वरण होने के पश्चात् मनुष्य में ही ईश्वर के अवतरण की परिकल्पना श्री अरविन्द ने की है। उनके विचार से मनुष्य का जीवन उस समग्र सत् से युक्त ही नहीं अपितु उसी का ही स्वरूप है। इसलिए उसी स्वरूप को प्राप्त करना, इसी में स्थायी रूप से उपस्थित होना ही ईश्वर की नियति है। अतः मनुष्य का मनुष्यत्व इसी में है कि वह जीवन में ईश्वर को उतारे।

पंत ने भी यही संदेश दिया–

''मनुज को अर्जित करनी आज,
धरा पर ईश्वरत्व की शक्ति।''[21]

जीवन में ईश्वर के अवतरण से या भौतिकता में 'दिव्यता' के अवतरण से ही जीवन में परिपूर्णता आयेगी। श्री अरविन्द की भाँति कविवर पंत ने भी नर–नारायण का तादात्म्य स्थापित किया है–

"ईश्वर का नर में हो रूपान्तर।"[22]

यही रूपान्तरण ही मनुष्य को 'अतिमानव' अथवा 'दिव्यता' की स्थिति में पहुँचा देता है। महर्षि अरविन्द की ही भाँति पंत को भी यह विश्वास है कि 'पूर्ण मानव' पृथ्वी पर अवश्यमेव अवतरित होगा–

प्रथम बार अब जगत् ब्रह्म में,
ब्रह्म जगत में हुआ प्रतिष्ठित
मुक्त भेद–मन से भू जीवन
सित चित् पट में हुआ समन्वित!
जन्म ले चुका अब नव समाज
जड़ चित् को कर रस संयोजित[23]

यद्यपि पंत ने श्री अरविन्द के 'पूर्ण योग' साधना पद्धति को पूर्णरूपेण अंगीकार नहीं किया है तथापि वह उनके मूल सिद्धान्तों में अपनी आस्था व्यक्त करते हैं। श्री अरविन्द के अनुसार धरा पर नव प्रकाश की प्रतिष्ठा ही 'पूर्ण योग' कहलाती है और इसका उद्देश्य जीवन और जगत में परम सत्य की अभिव्यक्ति करना है। पंत ने भी धरा पर इसी महिमामयी अवतरण को 'पूर्णयोग' स्वीकार किया है–

"ईश्वरीय महिमा को भू पर करो प्रकाशित।"

इस प्रकार 'पूर्ण योग' द्वारा आत्मा और ब्रह्म के एकाकार हो जाने से मानव ईश्वरत्व की पूर्णता को प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है। श्री अरविन्द का 'विकास का सिद्धान्त' मौलिकता का परिचायक है। श्री अरविन्द ने मानव–विकास के सिद्धान्त को अत्यधिक महत्व दिया है उन्होंने अपने विकासवाद सिद्धान्त में भौतिक एवं आध्यात्मिक विकास का सम्यक समन्वय किया है। पंत ने श्री अरविन्द के विकासवाद को अपनाते हुए लिखा है–

"जिस प्रकार पदार्थ का संचरण परिस्थितियों के सत्य या गुणों में अभिव्यक्त होता है उसी प्रकार चेतना का संचरण मन के गुणों में लोक–जीवन के विकास के लिए। दोनों ही में सामंजस्य स्थापित करना नितान्त आवश्यक है।"[24]

पंत लिखते हैं–

"वही सत्य कर सकता मानव जीवन का परिचालन,
भूतवाद हो जिसका रज तन, प्राणिवाद जिसका मन।
औ, अध्यात्मवाद हो जिसका हृदय गंभीर चिरंतन
जिसमें मूल सृजन विकास के, विश्व प्रगति के गोपन।"[25]

इस प्रकार पंत ने मानव–मन तथा उसके ऊपर के स्तरों का विकास 'श्री अरविन्द के विकास सिद्धान्त' के अनुरूप किया है। श्री अरविन्द ने वैष्णव आचार्यों द्वारा प्रतिपादित अवतार सम्बन्धी मान्यताओं को भी स्वीकार किया है– 'अवतार' की परिभाषा देते हुए श्री अरविन्द कहते हैं– "जब वह अजन्मा अपने आपको जानते हुए, मानव, मन,

प्राण, शरीर को धारण कर मानव जन्म का जामा पहन कर कर्म करता है, तब वह देशकाल में भगवान के प्रकट होने की पराकाष्ठा है। यही भगवान का पूर्ण और चिन्मय अवतरण है, उसी को अवतार कहते हैं।"

मानव रूप में भगवान का अवतरण और भगवान के भाव में मानव का जन्म ये दिव्य अवतारों के दो पहलू हैं इसमें प्रथम अवतरण तो परम्परागत है किन्तु दूसरे प्रकार के अवतार की परिकल्पना श्री अरविन्द की मौलिक देन है – "हम इस बात को सत्य मानते हैं कि भगवान मानव शरीर में प्रकट हो सकते हैं और हुए हैं।"

पंत ने श्री अरविन्द की इन दोनों अवतारवादी मान्यताओं को महत्व प्रदान किया है और अपनी 'अरविन्द–दर्शन' शीर्षक कविता में इस प्रकार के अवतारों का विस्तार से विवेचन किया है–

"जल जीवन में मच्छ, कच्छ तुम कर्दम में बन,
भूजड़त्व में शूकर, वनचर में नृसिंह तन,
आदि मनुज वामन, शूरों में राम परशुपण,
मर्यादामय राम, विश्वमय बने कृष्ण घन।"[26]

पंत ने मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण और कल्कि अवतारों का वर्णन करते हुए योगेश्वर अरविन्द को अवतार की श्रेणी में प्रतिष्ठित करते हुए कहते हैं–

श्री अरविन्द, सभक्ति प्रणाम!
स्वर्मानस के ज्योतित सरसिज,
दिव्य जगत जीवन के वर द्विज,
चिदानंद के स्वर्णिम मनसिज,
ज्योतिधाम,
सज्ञान प्रणाम।[27]

इससे स्पष्ट है कि पंत की अवतारवाद की प्रतिष्ठा का आधार मूलतः अरविन्द–दर्शन ही रहा है।

कविवर सुमित्रानंदन पंत श्री अरविन्द की दार्शनिक मान्यताओं से पूर्ण रूपेण प्रभावित हैं। उन्होंने योगिराज श्री अरविन्द की भाँति दर्शन के सामान्य एवं विशिष्ट सिद्धान्तों को अपनाया है। उनके दार्शनिक विचारों में कहीं–कहीं आंशिक विरोधाभास भी प्रतीत होता है। जैसे कभी वे जगत को क्षणिक एवं मिथ्या कहते हैं तो कभी ब्रह्म की अभिव्यक्ति मानकर सत्य एवं चिरन्तन मानते हैं, फिर भी वे पूर्ण आस्थावान एवं महान आस्तिक ही हैं। पंत काव्य पर श्री अरविन्द–दर्शन के प्रभाव को व्यक्त करते हुए डॉ0 हरिवंश राय बच्चन कहते हैं – "इनके अधिकांश भाग पर उनके (अरविन्द के) दर्शन और विचारों की छाया पड़ी है। श्री अरविन्द के दर्शन, विचार, भाव और स्वप्नों की व्याख्या 'स्वर्ण किरण' और 'उत्तरा' में की गई है।"[28]

आचार्य नंददुलारे वाजपेई ने पंतकाव्य में श्री अरविन्द दर्शन के प्रभाव के विषय में उचित ही लिखा है कि – ''पंत अरविन्द–दर्शन को काव्य का स्वरूप देने में ही निरन्तर प्रयत्नशील रहे।''

संदर्भ

01– सुमित्रानंदन पंतः 'उत्तरा' (प्रस्तावना) पृष्ठ–22
02– पंतः गुंजन, पृ0 20
03– सर अरविन्दो आन हिमसेल्फ एण्ड आन द मदर, पृ0 446–47
04– पंतः किरण वीणा, पृ0 54
05– पंतः युगवाणी, पृ0 123
06– पंतः पंत ग्रंथावली, खण्ड–1, गुंजन, पृ0 232
07– पंतः लोकायतन, पृ0 8
08– पंतः लोकायतन, पृ0 28
09– श्री अरविन्दोः द लाइफ डिवाइन, पृ0 14
10– पंतः लोकायतन, पृ0 243
11– पंतः लोकायतन, पृ0 263
12– श्री अरविन्द के पत्र (हिन्दी अनुवाद) भाग–1, पृ0 78, 81
13– पंतः पतझर, एक भाव क्रांति, पृ0 16
14– श्री अरविन्द के पत्र (हिन्दी अनुवाद) भाग–1, पृ0 230
15– पंतः लोकायतन, पृ0 36
16– श्री अरविन्दः द लाइफ डिवाइन, पृ0 78, 95
17– पंतः लोकायतन, पृ0 234
18– श्री अरविन्द हिमसेल्फ एण्ड आन द मदर, पृ0 170
19– पंतः स्वर्ण धूलि, पृ0 73
20– पंतः स्वर्णकिरण, पृ0 75
21– पंतः लोकायतन, पृ0 412
22– पंतः लोकायतन, पृ0 412
23– पंतः लोकायतन, पृ0 680
24– पंतः उत्तरा, भूमिका, पृ0 11
25– पंतः स्वर्णधूलि, पृ0 102
26– पंतः ग्रंथावली, खण्ड–2, पृ0 226
27– पंतः ग्रंथावली, खण्ड–2, स्वर्णधूलि, पृ0 301
28– बच्चनः कवियों में सौम्य संत, पृ0 80

मीडिया और हिन्दी

डॉ0 नीलम महतो

हिन्दी विभाग, सुन्दरवती महिला महाविद्यालय, भागलपुर(बिहार)

विष्–ग्राम बने इस युग में मीडिया की मार्मिकता समझना और उसकी महत्ता बतलाना अपने में एक बेमानी कार्य है। अपने तीन पग में तीनों लोक को नाप लेने वाली मीडिया और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया नेटवर्किंग रूपी वामन की अनन्त संभावनाओं का अंकन और आकलन संभव नहीं है।

मीडिया को स्पश्ट करते हुए डॉ0 अर्जुन च्रव्हान ने कहा है– ''मीडिया एक षक्ति है जो मानव युक्ति के सारे पर्याय प्रस्तुत करती है। मीडिया एक ताकत है जिसका लोहा राजनीति भी मानती है और मीडिया एक अंकुष की नोक है जो राजनेता रूपी ऐरावतों की निरंकुषता पर भी दस्तक देती है। यह वह अद्भुत आग है जो जीवन देती भी और लेती भी है। हँसाती भी है और रुलाती भी है। बनाती भी है और बिगाड़ती भी है। चिनगारी को षोले बनाना और षोले को षबनम इसके बाँये हाथ का खेल होता है। मीडिया आसक्त को अनासक्त और अनासक्त को आसक्त बना सकती है, साधु को संन्यासी और संन्यासी को साधु करार दे सकती है। दूध का दूध और पानी का पानी, सत्य का सम्मान और असत्य का अपमान, न्यायी का आदर और अन्यायी का अन्त तथा गुणों का गौरव और अवगुणों की धज्जियाँ उड़ाने का काम यह बेहिचक कर सकती है। असहाय या निरुपाय को खूब सहायता प्रदान करने और षक्तिषाली या सामर्थ्यवान को छठी का दूध याद कराने का काम भी मीडिया ही कर सकती है। वह समाज एवं राश्ट्र का सलाहकार, सेवक, षिक्षक, हितचिंतक, प्रहरी और षासक ही नहीं डॉक्टर और इंजीनियर भी होती है।''[1] इस मीडिया के तीन पग इसके तीन प्रकार के संचार माध्यम हैं–

1. मुद्रित संचार– माध्यम
2. इलेक्ट्रानिक संचार– माध्यम
3. नव– इलेक्ट्रॉनिक संचार– माध्यम

न संचार माध्यमों के सर्वेक्षण से हिन्दी के अनेक रूप सामने आते हैं। इसी बात को रखते हुए अचला षर्मा कहती हैं – पिछले दस वर्शो में हिन्दी के अखबार पहले जैसे नहीं रहे। अखबार और पाठक ग्लोबलाइजेषन का मजा चख रहे हैं। प्रसारण माध्यमों में आई तब्दीली साफ दिखाई देती है। जितने अखबार, पत्रिकायें, रेडियो और टेलीविजन चैनल उतने ही हिन्दी के रूप। हिन्दी को लेकर सोचने वाले तरह–तरह के सवाल उठाते हैं, जैसे– क्या ये हिन्दी के लिए संकट की सूचना है, क्या हिन्दी एक संक्रमण काल से

गुजर रही है, क्या हिन्दी परिवर्तनों और प्रयोगों के बीच जीवित रह पायेगी?'' इन प्रष्नों और स्थिति के सर्वेक्षण में जब मुद्रित संचार माध्यम पर निगाह डालते हैं तो पाते हैं कि वहाँ की स्थिति 21वीं सदी के 'हिंगलिष' जिसे डॉ0 अर्जुन चव्हान 'हिन्दी का इन्फेक्षन' कहते हैं, जो वाक्य में सिर्फ अपने क्रिया और कारक को लेकर ही हिन्दी कहे जा सकते हैं से बहुत बेहतर हैं और साहित्यिक पत्रिकाओं की हिन्दी का रूप तो और अधिक बेहतर तथा एक तरह से बिल्कुल परिनिश्ठित है, समाचार– पत्रों की हिन्दी पर आंचलिक बोलियों का प्रभाव अवष्यसंभावी है क्योंकि क्षेत्रीयता उसके पाठकों को आकर्शित करती है। जिस बात पर व्यंग्य करने के लिए भारी भरकम षब्दावली और षैली का पांडित्यपूर्ण प्रयोग करना पड़ता है उसे बोलचाल की बंबईया या बिहारी हिन्दी के जरिए अधिक दम–खम के साथ प्रस्तुत किया जा सकता है। यथा–''हर बरसात में जितना पेड़ लगा दिया जाता है उससे तो कोई भी षहर जंगल बन जाना चाहिए, लेकिन षहर जंगल तो क्या, बगीचा भी नहीं बनता कारण नगर के महत्वपूर्ण लोग माली नहीं होते कि पेड़ भी लगावें और उसमें पानी भी देवें। वैसे पेड़ को सूखने से एक फायदा तो होता है कि अगले साल वह जगह फिर से वृक्षारोपण के लिए उपलब्ध हो जाता है। जगह की कमी होवे तो काम इसी तरह चलाना पड़ता है। इस तरह वृक्षारोपण बार–बार होता रहता है और उसका प्रचार भी।''[1]

असल में सही भाषा जनजीवन, जनव्यवहार और लोकाचार की है। अतः इसकी षक्ति को अवरुद्ध करना असंभव है। इस तथ्य को समर्थन देते हुए डॉ0 अर्जुन चव्हान कहते हैं– ''प्रादेषिक भाषा के प्रभाव और सरलता की ओर अग्रसर रहने के स्वभाव के कारण समाचार पत्रों की भाषा में अब सरलीकरण का दौर दिखाई देता है। इसे हिन्दी का विकास कहें कि विनाष। लेकिन दैनिक समाचार–पत्र को अपने अस्तित्व के लिए लोकाभिमुख होना जितना जरूरी है उतना ही जरूरी है लोकभाशाविमुख होना। पाठक वर्ग समाचार–पत्र का सही टॉनिक है। उसकी प्राप्ति अप्राप्ति पर उसका जीना मरना तय होता है।''[2]

आज अंग्रेजी के अखबारों में एक नये ढंग की हिन्दी का भी चलन दिखता है जिसकी लिपि रोमन है। इसके लिए ही सुधीष पचौरी ने कहा है– ''एक हिन्दी पेज थ्री मार्का हिन्दी भी होती है जो रोमन में दे दी जाती है। यह मनोरंजक हिन्दी होती है यह बहुत पहले 'स्टारडस्ट' के षुरू के पृश्ठों पर नजर आती थी। अब अंग्रेजी दैनिकों में भी चलन में आ गयी है।''

इलेट्रॉनिक मीडिया के श्रव्य संचार– माध्यम की हिन्दी में भी पत्र–पत्रिकाओं वाली हिन्दी का परिनिश्ठित रूप देखने को मिलता है। बी.बी.सी. हिन्दी–सेवा जैसे विदेषी चैनल भी हिन्दी में मौलिक पत्रकारिता कर रहे हैं। हाँ, यहाँ आम बोलचाल की सरल भाषा रूप का प्रयोग है किन्तु वहाँ भी हिन्दी का अपना बाना चढ़ा होता है। हिन्दी विकास–क्रम की यात्रा में इतने पड़ाव हैं कि इनके सामने एक कठिन चुनौती थी कि हिन्दी का स्वरूप कैसा हो, पर डॉ0 अर्जुन चव्हान की इस उक्ति में हम कह सकते हैं– ''आवाज की दुनिया के इस दोस्त ने न केवल हिन्दी के वर्तमान को सुरक्षित बनाया बल्कि

उसका भविश्य उज्वल बनाने में भी योगदान किया। यही एक मात्र ऐसा जन– संचार माध्यम है कि इस पर हिन्दी को बिगाड़ने का इल्जाम लगाने से पहले बार–बार सोचना पड़ता है।''[3]

आज इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के श्रव्य–दृष्य माध्यम के अन्तर्गत फिल्म, वीडियो, दूरदर्षन आदि से परोसी जानेवाली हिन्दी का स्वरूप तो हिन्दी का परिश्कृत और परिनिश्ठित रूप भी है, किन्तु दूरदर्षन के विभिन्न चैनलों से आने वाली हिन्दी का स्वरूप भिन्न है। ध्वनि और दृष्य का जादुई प्रदर्षन कर जनमन को बाँधने वाले दूरदर्षन के हिन्दी को जन–जन तक पहुँचाने का योगदान को नकारा नहीं जा सकता। यह अलग बहस का मुद्दा है कि इसने हिन्दी को बनाने में योगदान किया है या बिगाड़ने में और इसे जहाँ संस्कृति को बिगाड़ने के लिए जिम्मेदार ठहराया जाने लगा है वहां इसे हिन्दी को बिगाड़ने वाला कहें तो आष्चर्य नहीं होना चाहिए, किन्तु इस सच्चाई से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि इसने हिन्दी को स्वदेष ही नहीं विदेषों में भी घर–घर तक पहुँचाया है। प्रषासन की तरह दर–दर ठोकर खाने पर विवष नहीं किया। चाहे उसमें भाशिक दोश भी दिखाई देता हो तो उसे सुधारने का दायित्व हमें उठाना होगा। आज उद्योग व्यवसाय के इस होड़ में इस मीडिया के लिए हिन्दी अपनाने के सिवाय दूसरा कोई विकल्प नहीं हैं क्योकि जनभाशा के रूप में यह दूरदर्षन के विभिन्न चैनलों की लाचारी है। धारावाहिक हो या विज्ञापन हिन्दी के अभाव में सब बिन्दी मात्र है। अब हिन्दी पत्रकारिता दूसरे दर्जे की पत्रकारिता नहीं रही दूरदर्षन ने भाशा का रुख ही बदल दिया है।

इसकी भाशा पर अपना मत देते हुए डॉ0 कृश्ण कुमार रत्तू कहते हैं– ''दूरदर्षन चैनलों से प्रसारित कार्यक्रमों की भाशा का अध्ययन करते हुए हम पाते हैं कि इन चैनलों ने हिन्दी की उस भाशा को जन्म दिया है जिसे आप अंतर्राश्ट्रीय स्तर पर मिले–जुले षब्दों वाली भाशा का नाम दे सकते हैं जिसमें आपको इस तरह के अनेक वाक्य सुनाई देंगे जिसमें 10षब्दों में से 7 षब्द अंग्रेजी के हैं। अब ऐसी भाशा आप किस श्रेणी में रखकर उसका भाशा विज्ञान के तौर पर, भाशागत आधार पर अध्ययन कर सकते हैं? निष्चय ही यह भाशा का एक आधुनिक खिचड़ी रूप समाने है और सबसे बड़ी बात यह है कि यह रूप आज सर्वमान्य हो रहा है। और भाशा के व्याकरणी चौखटे में भले यह भाशा कहीं भी न टिकती हो, परंतु आज सच्चाई यह हैं कि आम बोलचाल और कामकाज की भाशा ही हिन्दी भाशा है, जो इन दिनों टेलीविजन स्क्रीन से प्रेशित हो रही हैं।''[5]

किन्तु प्रो0 हरिमोहन का यह वक्तव्य डॉ0 रत्तू की बातों को काटता सा प्रतीत होता है– ''यह कटु सत्य है कि कुछ चैनलों पर ऐसी आधुनिक खिचड़ी परोसी जा रही है। एक विषेश नाटकीयता के साथ जानबूझ कर अंग्रेजी घुसेड़ कर बोली जा रही है, लेकिन कुछ चैनल बहुत अच्छी जानी पहचानी लोक स्वीकृत हिन्दी का प्रयोग कर रहे हैं और उनके कार्यक्रम उतने ही लोकप्रिय हैं।[6]

दूरदर्षन की हिन्दी पर डॉ0 सुधीष पचौरी की टिप्पणी बिल्कुल सटीक है –''टी0वी0 चैनलों में कई तरह की हिन्दी नजर आती है यदि कहा जाय कि हर चैनल की हिन्दी अलग षैली वाली होती है तो अत्युक्ति नहीं होगी। कहीं बहुत चपल दनादन हिन्दी है तो कहीं मद्धिम गतिवाली, कहीं दोनों का मेल है तो कही एकदम सरकारी हिन्दी। कहीं आषय दुराषय में बदल रहा है तो कहीं मुहावरे टाँग तोड़ देते हैं। कहीं विषेशण पड़ा होता हैं तो कहीं संबा नाच रही होती है। हिन्दी खबर चैनलों ने बिना किसी कायदा किताब के अपने ढंग की स्वतः स्फूर्त हिन्दी बनाई है। चपला चंचला हिन्दी। अप्सरा हिन्दी है, बाजारी हिन्दी है। हाँ फिल्मों की हिन्दी अभी साहित्यवाली ही है क्योंकि आधुनिक पोषाक पहने प्रेमी जब प्रेम का इजहार करते है तो पुराने ढंग से ही इष्क–बेवफाई की बात करते हैं।''[7]

यूँ भी हिन्दी को मानव मन की संवेदना के स्तर पर जोड़ने का कार्य और कमाल फिल्मों का भी है और उसकी भाषा का भी। चाहे यह देषप्रेमी, क्रांति, भगत सिंह, गाँधी आदि जैसी देषभक्ति परक फिल्म हो या हीर– रांझा, लैला– मजनू, एक दूजे के लिए, प्रेम रोग, जैसी प्रेम परक या थ्री इडिएट्स, सितारे जमीं पे आदि जैसी यथार्थ परक। इन फिल्मों के संवाद और गानों ने हिन्दी को जन–जन की जुवान पर चढ़ाया ही नहीं उसे स्थापित करने में विगत सात–आठ दषकों से अहम भूमिका निभा रहा हैं और जहाँ तक फिल्मों में हिन्दी के स्वरूप का सवाल है तो इसके लिए डॉ0 अर्जुन चव्हान कहते हैं–''वस्तुतः वर्तमान काल में ऐसा कोई संचार साधन नहीं मिलता जिसमें विषुद्ध भाषा का ही प्रयोग मिलता है फिर भाशा के पुरोधा फिल्म की हिन्दी को बिगड़ैल कहने में क्यों पीछे रहे? उनकी नजर में यह बिगड़ाव फिल्मी भाशा का ही नहीं, नई पीढ़ी के प्रति हमारी संस्कृत का भी है।''[8]

नव–इलेक्ट्रॉनिक मीडिया इन्टरनेट, टेलिफोन, संगणक, ई.मेल, एस.एम.एस. आदि की हिन्दी एक दम अलग तरह की है वहाँ की हिन्दी को हम एक तरह से षॉर्टकर हिन्दी कह सकते हैं, किन्तु यह सुखद बात है कि आई0टी0 पर हिन्दी का प्रयोग सुलभ हुआ है। 'मेल–जोल' और 'वेब–दुनिया' जैसे मेल–पोर्टल ने अपनी जड़ें जमा ली हैं। 'एमएस ऑफिस नामक सुप्रसिद्ध पैकेज का हिन्दी रूपान्तर माइक्रो–सॉफ्टवेयर निर्माण में दिलचस्पी ले रहा है। देवनागरी लिपि संगणक के अनुकूल साबित हुई है। आई.टी. के मुख्य अंग–संगणक इन्टरनेट, ई–मेल, वॉइस–मेल और फैक्स आदि में अंग्रेजी के साथ स्पर्धा करने में हिन्दी भी लगी हुई है। अब हिन्दी में सॉफ्टवेयर बन रहे हैं, वेब–साईअ का निर्माण किया जा रहा है। सूचना ओर प्रौद्योगिकी के विभिन्न उपकरणों में हिन्दी को भले ही प्रेम पूर्वक न अपनाकर उसकी व्यावसायिकता को देखकर उन्नत भविश्य का षुभ संकेत है। आज भले ही हिन्दी सॉफ्टवेयर, पोर्टल और वेवसाईट का अस्तित्व लधु है, किन्तु आने वाले दिनों में इस माध्यम पर हावी होने की क्षमता हिन्दी में विकसित हो सकती है। आवष्यकता है हमें सजग रहने की। आज हिन्दी भाशा को मीडिया ने बोली में बदला है जिससे कई प्रकार की नई बोलियाँ या हिन्दियाँ पैदा हो गई हैं, जो बेहद संवादसक्षम हैं, लेकिन व्याकरणिक बंधनों में नही बँधतीं। अब प्रष्न उठता है कि मीडिया की हिन्दी को इससे बचना चाहिए या

ऐसे प्रयोग चलते रहने चाहिए?''हिन्दी क्या करें? इस नए राजनीतिक, आर्थिक और तकनीकी माहौल में हिन्दी की भावी रणनीति क्या हो? गठजोड़ की या अलगाव की''[9]

इस प्रष्न के जवाब के क्रम में एक प्रष्न आता है– क्या हिन्दी को इससे कुछ भला हो रहा है? उत्तर होगा हाँ। आधुनिक इलेक्ट्रॉनिक और नव– इलेक्ट्रॉनिक माध्यम द्वारा हिन्दी को एक व्यापक धरातल मिला है। राश्ट्र ही नहीं अन्तर्राश्ट्रीय स्तर पर भी हिन्दी फिल्मों, गीतों के प्रति अभिरुचि बढी हैं। दूरदर्षन के अन्य कार्यक्रम भी देखे जाते हैं। वे भी अंग्रेजी मिश्रित हिन्दी से तथ्य समझ लेते हैं। इस तरह धीरे–धीरे उनके लिए भी हिन्दी के षब्द परिचित होते जा रहे हैं। ऐसी स्थिति में यदि यह कहा जाय कि ऐसे प्रयोगों में कोई हर्ज नहीं है तो हिन्दी के षुद्धताप्रिय विद्वान रूश्ट होंगे।

सच तो यह है कि यदि हम हिन्दी में अंग्रेजी के षब्दों से परहेज करेंगे तो एक दिन पुनः वही दिन देखने पड़ेंगे जब हमारी दक्षिणी हिन्दी (रेख्ता) उर्दू में तबदील होकर हिन्दी को 'रेख्ता' के अकूत साहित्य– भंडार से रिक्त कर गई थी क्योंकि उस वक्त भी षुक्ल आदि हिन्दी आलोचकों ने अरबी–फारसी षब्द मिश्रित हिन्दी को हिन्दी मानने से इन्कार किया था और दूसरी बात ''जो भाशा जितनी उदार होगी, समय के साथ–साथ बदलती चली जाएगी वह उतनी ही लोकप्रिय होगी। उसकी जीवन–क्षमता उतनी ही अधिक हो जाऐगी। संस्कृत और लैटिन भाशाओं का उदाहरण हमारे सामने है। इन भाशाओं ने अपने व्याकरण के चलते एक कठोर षुद्धतावादी रवैया अपनाया। परिणाम यह हुआ कि धीरे–ध ीरे ये भाशायें विष्व–भाशाओं के मानचित्र में एक बिन्दु के रूप में सिमट कर रह गई।''[10]

अंग्रेजी अपनी लचीली और उदारतावादी प्रवृत्ति से आज विष्व फलक पर छायी हुई है। मुख्य बात तो यह है कि भाशा का प्रयोग होना महत्व रखता है फिर चाहे कुछ खामियों के साथ ही क्यों न हो। जैसे कोई व्यक्ति संपन्न हो, किन्तु उसके जीवन में उमंग उर्जा और गतिषीलता की कमी हो तो उसका महत्व नगण्य होता है वैसे ही भाशा कितनी भी परिनिश्ठित हो परंतु जन–मन में रची बसी नहीं हो तो वह अजायबघर की वस्तु बनकर रह जाती है।

इसलिए ''अहम् सवाल भाशा के बनने बिगड़ने का नहीं है, सवाल है उसके प्रयोग अप्रयोग का, उसकी बढ़ती–घटती मात्रा का, उसमें नव–निर्माण के स्वीकारने नकारने का और उसकी परिवर्तनषीलता–अपरिवर्तनषीलता का, अगर प्रयोग होता है और बड़ी मात्रा में होता है, नव निर्माण को स्वीकार करने हेतु वह परिवर्तनषील है तो समझना चाहिए कि यह उसकी सार्थकता की निषानी है और जीवंतता की भी।''[11]

आज 21वीं सदी आई है और भाशा बदल रही है। परिश्कृत हिन्दी से घालमेल की हिन्दी हो रही है। जब 20वीं सदी आ रही थी तब भी ब्रजभाशा बदल कर खड़ी बोली में हिन्दी बनी थीं। यही भाशा में तकनीकी क्रांति है जो 200वर्शों से चल रही है। हाँ आज बदलाव की गति तेज है। जो लोग कहते हैं कि भाशा का एक मानदंड बनाया जाय वो गलत कर रहे है। ''सच तो यह है कि इन्टरनेट की भाशा अलग होगी, टी0वी0 की भाशा

अलग होगी और रेडियो तथा प्रिंट मीडिया की भाषा अलग होगी क्योंकि सबके अपने–अपने परिवेष, परिस्थिति और तकनीक है।''[12]

फिर भी हमें संचार माध्यम में प्रयुक्त होने वाली हिन्दी के लिए अपनी आँख खोलनी होगी। उसके अस्तित्व संरक्षण के लिए हृदय से पूछना होगा। जब बीबीसी 'हिन्दी सेवा' की सुगढ़ हिन्दी कार्यक्रम धड़ल्ले से चल और सराहे जा रहे हैं तो अन्य की हिन्दी में जबरदस्ती का घालमेल क्यों? हाँ उसकी सहजता और संप्रेशणीयता के लिए जितनी मात्रा में यह घालमेल आवष्यक है वह हो। बुद्धवाला मध्यम मार्ग अपनाया जाय। अंग्रेजी के बदलते स्वरूप की तरह निश्पक्ष, सूचनाप्रद और सटीक लेखन के लिए एक सीमा तक लचीलापन लाया जाय। वैसे हिन्दीतर षब्दों को लाया जाय जो हिन्दी में रच–बस गये हैं। यदि विज्ञान और तकनीकी के कुछ अंग्रेजी के नये षब्द लाने हो तो उन्हें प्रतिभावान व्यक्तियों के मुख से विभिन्न कार्यक्रमों में, विभिन्न संचार माध्यमों द्वारा बार–बार सुनायें जाय ताकि इस षब्दों को रूढ़ होने में देर न लगे।

यह सच है कि वर्तमान और भावी काल सूचना प्रोद्योगिकी का है। अतः हिन्दी को तद्नुकूल हेतु सुनियोजित प्रयास के अलावे कोई विकल्प नहीं है। ऐसी स्थिति में एक ऐसे समिति का गठन हो जो आई.टी. के अनुरूप हिन्दी को ढालने का निरंतर कार्य करती रहे। ऐसी समिति में भाषा के विद्वान के साथ ही आई.टी. के विषेशज्ञ भी हों। नव–इलेक्ट्रोनिक संचार–माध्यम के लिए हिन्दी की सरल–सुगम पारिभाशिक षब्दावली बनाई जाए जिसमें बोलचाल की भाषा से परहेज न हो।

आज अंग्रेजी ही इन्टरनेट का माध्यम है ऐसी बात नहीं है। परविन्दर गुजराल का वक्तव्य है– ''जैसा कि अंग्रेजी माध्यमों ने कहा है कि इंटरनेट की अंग्रेजी ही एक मात्र भाषा है। अंग्रेजी के अलावे पैंतालीस प्रतिषत कॉन्वेंट अन्य भाशाओं में है। इसका काफी बड़ा प्रतिषत यूरोप में है, 'नेस्केट' 23 भाशाओं में उपलब्ध है, 'इंटर नेस्कोलरी' कई भाशाओं में उपलब्ध है, 'विकोस सॉफ्ट' जो अपना प्रोडेक्ट लॉन्च करता है वो जापान चीन ताईवान में उसी वक्त अपने प्रोडेक्ट उसी भाशाओं में रिलीज करता है, हिन्दुस्तान में ऐसा नहीं होता। नेट को एक मास–माध्यम के रूप में देखें और देखें कि अन्य मास– माध्यमों में क्या हो रहा है। चाहे वो टी.वी. हो चाहे वो रेडियो हो या चाहे वो समाचार–पत्र हो किसी भी रूप में अंग्रेजी डॉमिनेट नहीं करते। अंग्रेजी का दबाव अन्य भाशाओं पर नहीं है।''[13]

हाँ उपभोक्ता को हर तरह की सेवा देने वाला 'ई–कामर्स' आज बाजार की मांग है, पर वहाँ आज हमारी हिन्दी का प्रवेष नहीं दिखता। अतः ऐसे हिन्दी सॉफ्टवेयर का निर्माण करना होगा जो इन्टरनेट एवं ई–कामर्स की सेवा का माध्यम बन सके। अंग्रेजी के पीछे भागती आत्मकेंद्रित मानसिकता की युवा पीढ़ी जिसने हिन्दी से अपना संबंध फिल्म और फिल्मी गीतों तक ही रखा है, आज हम षिक्षकों को आवष्यकता है उनमें हिन्दी के सामर्थ्य के प्रति विष्वास दिलाने की क्योंकि उनके कंधों पर, उनकी व्यावहारिकता और मानसिकता पर हिन्दी का वर्तमान और भविश्य निर्भर है।

संदर्भ सूची–

1. नये जन–संचार माध्यम और हिन्दी –लेख– नए संचार माध्यम, नई चुनौतियाँ–अचला षर्मा, पृ0 10
2. नवभारत टाइम्स–खाली–पीली स्तंभ–18.05.09
3. मीडिया कालीन हिन्दीः स्वरूप एवं संभावनायें–डॉ अर्जुन चव्हान, पृ0–52,48
4. मीडिया कालीन हिन्दी स्वरूप एवं संभावनायें–डॉ0 अर्जुन चव्हान पृ0–50
5. दूरदर्षन हिन्दी के प्रयोजन मूलक विविध प्रयोग – डॉ0 कृश्ण कुमार रत्तू–पृ0–65,321
6. जन संचार और हिन्दी – प्रो0 हरिमोहन– पृ0–82
7. डॉ0 सुधीर पचौरी, पृ0–
8. मीडिया कालीन हिन्दीः स्वरूप एवं संभावनायें– डॉ0 अर्जुन चव्हान, पृ0–62
9. हिन्दी का बदलता स्वरूप–(राश्ट्रीय सेमिनार) अचला षर्मा
10. आधुनिक जन संचार और हिन्दी– प्रो0 हरिमोहन, पृ0–141
11. मीडिया कालीन हिन्दी–स्वरूप एवं संभावनायें– डॉ0 अर्जुन चव्हान, पृ0–50
12. जितने माध्यम उतनी हिन्दी– राश्ट्रीय सेमिनार– अजय उपाध्याय
13. इंटरनेट पर हिन्दी का स्वरूप –(राश्ट्रीय सेमिनार) परविन्दर गुजराल

कमइ

लोक कथाओं में बसा जीवन

डॉ० बृजबाला सिंह

एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, आर्य महिला पी०जी० कालेज, वाराणसी

परम्परा से चली आ रही तथा मौखिक रूप से कही जाने वाली प्रचलित कहानियाँ लोक कथाएँ कहलाती हैं। आज ऐसा कोई देश या राष्ट्र न होगा जिसके पास कहने के लिए कोई लोक कथा न हो। विभिन्न देशों में प्रचलित लोक कथाएँ वहाँ की संस्कृति, सामाजिक, धार्मिक एवं राजनैतिक दशाओं का तो ज्ञान करवाती ही हैं साथ ही साथ हमें वहाँ रहने वालों के जीवन के प्रति दृष्टिकोण, उनकी विचारधाराओं, परम्पराओं, विश्वासों, आकांक्षाओं एवं सपनों का भी अध्ययन करवाती हैं। संक्षेप में यदि हम कहना चाहें तो किसी देश की लोक कथाएँ वहाँ के लोगों को समझने में सहायता करती हैं। लोक संस्कृति के अनुसंधान के लिए ये अन्यतम साधन हैं। क्योंकि इनमें जनसाधारण के सुख–दुःख, आशा–निराशा, हर्ष–विषाद का सम्यक् चित्रण उपलब्ध होता है।[1]

लोक कथाओं की प्राचीनता निर्विवाद है। ये एक शाश्वत परम्परा के रूप में हमारे बीच उपस्थित हैं। यदि इनके प्रादुर्भाव एवं विकास पर विचार करें तो इनकी जड़ हमें वैदिक काल से सम्बन्ध रखती दिखाई देती हैं। सर्वप्रथम वैदिक संहिताओं में हमें लोक कथाओं के बीज उपलब्ध होते हैं। ऋग्वेद में ऋषि शुनःशेप का प्रसिद्ध आख्यान मिलता है। प्रमुख एवं विख्यात स्त्री चरित्र अपाला एवं मैत्रेयी की गाथाएँ भी यहीं पर सुरक्षित हैं। ऋग्वेद में सुकन्या एवं च्यवन मुनि की प्रेम कथा भी सुन्दर ढंग से वर्णित है। वैदिक ग्रन्थों के उपरान्त ब्राह्मण ग्रन्थ लोक कथाओं के उत्तम स्रोत हैं। वहाँ ऐसे चरित्रों की उपस्थिति है और उनके मुँह से ऐसे संवादों का प्रयोग है जिसे देखकर कहा जा सकता है कि लोक कथाओं का आदिम रूप यही है। जगत प्रसिद्ध पुरुरवा एवं उर्वशी की कथा का उल्लेख यहीं पर मिलता है। इसी कथा को आधार बनाकर महाकवि कालिदास ने 'विक्रमोर्वशीयम्' नाटक लिखा। 'हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास' भाग सोलह में समग्र लोक साहित्य के विषय में विस्तार से चर्चा की गयी है। शाट्यायन ब्राह्मण में महर्षि वृश नामक पुरोहित के वेदकालीन महत्त्व का प्रतिपादन किया गया है। इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण में दध यङ्आथर्वण की कथा का उल्लेख है जिनका लोक प्रचलित नाम दानी दधीचि है जो दानवीरता की मिसाल के रूप में जन–जन में चर्चित हैं। इन्होंने अपनी अस्थियों का भी दान कर दिया था जिससे वज्र का निर्माण कर इन्द्र ने वृषसुर का वध किया था।[2]

ब्राह्मण ग्रन्थों के पश्चात् उपनिषदों में भी लोक कथाओं के अनेक प्रसंग हैं। कठोपनिषद में वर्णित नचिकेता की कहानी बहुत लोकप्रिय एवं चर्चित है। केनोपनिषद्

में यक्ष और अग्नि का वर्णन पाया जाता है। 'बृहद्देवता' में वैदिक संहिताओं एवं उपनिषदों की कथा मिलती है तथा 'वेदार्थदीपिका' शीर्षक टीका में षड्गुरुशिष्य रचित 'कात्यायन सर्वानुक्रमणी' का उल्लेख है। इन ग्रन्थों के पश्चात् संस्कृत ग्रन्थों में भी लोक कथा का अक्षय भंडार मिलता है। गुणाढ्य की 'वृहत्कथा' सबसे बड़ा संग्रह है। इसका रचनाकाल ईसा की दूसरी शताब्दी में बताया जाता है। महाकवि भास के नाटकों की कथावस्तु यहीं से ली गयी है। शूद्रक तथा महाराजा हर्ष ने भी अपने नाटकों के कथानक 'वृहत्कथा' से लिया है। 'वृहत्कथा' के तीन रूप 'वृहत्कथा श्लोक', 'वृहत्कथा मंजरी' एवं 'कथा सरित्सागर' हैं। वृहत्कथा श्लोक संग्रह में चार हजार पाँच सौ उन्तालिस श्लोक हैं जिनके रचयिता बुध स्वामी हैं। 'वृहत्कथा मंजरी' के रचयिता आचार्य क्षेमेन्द्र हैं जो संस्कृत साहित्य में अपनी विपुल रचनाओं के लिए ख्यातिलब्ध हैं। 'कथासरित्सागर' सोमदेव की रचना है। इसमें श्लोकों की संख्या 2400 है। इस ग्रन्थ का अनुवाद 'ओशन आव स्टोरी' है।

'पंचतंत्र' की कहानियाँ भी अद्वितीय हैं। इनमें ज्ञान, नीति, सदाचार, न्याय जैसे विषयों को लेकर रोचक कथाएँ लिखी गयी हैं। संस्कृत के इस मौलिक ग्रन्थ का स्वागत विश्व में हुआ है और होता है। इसके रचनाकार विष्णु शर्मा ने इसे पाँच भागों में अथवा पाँच तंत्रों में संग्रहीत किया है। यह माना जाता है कि यूरोप की मूल कथाओं का स्रोत 'पंचतंत्र' ही है। 'हितोपदेश' के गदहे की कहानी बहुत प्रसिद्ध है। इसी क्रम में 'वैतालपंचविंशतिका' का नाम आता है जिसे लोक में बैताल पचीसी के नाम से जाना जाता है। इसके लेखक शिवदास नामक आचार्य माने जाते हैं। इसमें महाराज विक्रम से सम्बन्धित पचीस कहानियों की रचना सरल संस्कृत में की गयी है। बाद में इसका अनुवाद हिन्दी में हुआ है। इसका क्रमशः प्रकाशन 'चन्दामामा' जैसी लोकप्रिय कथा–कहानियों की पत्रिका में हुआ और पर्याप्त लोकप्रियता मिली।

'सिंहासन बत्तीसी' में बत्तीस कहानियाँ हैं। धारा नगरी के राजा भोज के सिंहासन के नीचे स्थित बत्तीस पुतलियाँ उन्हें प्रश्न के रूप में कहानियाँ सुनाती हैं। 'शुकसप्तति' में तोते द्वारा कही गयी सत्तर कहानियों का संचयन है। इसका अनुवाद चौदहवीं शताब्दी में 'तूतीनामा' शीर्षक से फारसी में किया गया था। इसमें प्रवासी नायक के विषय में विरहातुर नायिका को धैर्य एवं आश्वासन देने के लिए रोज एक कहानी सुनाने का वर्णन है। इसी प्रकार शिवदास के 'कथार्णव' में पैंतीस कथाओं का तथा विद्यापति की 'पुरुष परीक्षा' में चौवालिस कहानियाँ हैं। 'लोक जीवन का दर्पण' इन कहानियों को कहा जा सकता है। जातक कथाओं जिनका सम्बन्ध भगवान बुद्ध से है और जिनकी संख्या लगभग छः सौ है, इनमें भगवान बुद्ध के विभिन्न पूर्व जन्मों के साथ उस समय के सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक एवं आर्थिक जीवन का प्रतिबिम्ब देखा जा सकता है। इनमें नीति सम्बन्धी बातें अधिक हैं। सदाचार एवं शील की शिक्षाएँ हैं। अपभ्रंश के चर्चित ग्रन्थ 'नाया धम्म कहाओ' में अनेक कहानियाँ हैं। इसके अतिरिक्त प्राकृत के ग्रन्थ

'समराइच्च कहा' तथा 'प्रपंच कहा' में भी लोक जीवन की झलक देखी जा सकती है। इस प्रकार हिन्दी की लोक कथाओं का प्रादुर्भाव वेदों से होता हुआ विभिन्न भाषाओं में अनूदित होकर हिन्दी में सुरक्षित एवं समादृत है।[3]

हिन्दी में आई इन लोक कथाओं का तात्पर्य क्या है और उसके बारे में लोगों की क्या अवधारणा है इस क्रम में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लोक कथा शब्द के विषय में लिखा है कि लोक कथा शब्द मोटे तौर पर लोक प्रचलित उन कथाओं के लिए व्यवहृत होता है जो मौखिक या लिखित परम्परा से क्रमशः एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को प्राप्त होते रहते हैं।[4] हिन्दी साहित्य कोश में लोक में प्रचलित और परम्परा से चली जाने वाली मूलतः मौखिक रूप से प्रचलित कहानियाँ लोक कहानियाँ हैं। सामान्यतः परम्परागत आख्यानक को लोक कथा कह सकते हैं। जिनका लिखित होना आवश्यक नहीं है। प्रश्न यह उठता है कि इन लोक कथाओं का जन्म एवं प्रसार कैसे हुआ है। ईसा पूर्व पन्द्रह सौ से आज तक के लम्बे समय में चर्चित एवं प्रचलित लोक कथाओं का सम्यक् आधार एवं इतिहास है। इस इतिहास को जानने से पहले यह जान लेना आवश्यक है कि लोक कथाओं एवं पौराणिक कथाओं में अन्तर होता है। दोनों में कथात्मक ढंग से बात कही जाती है किन्तु कथा का आधार दोनों का भिन्न होता है। पौराणिक कथा को केवल कथा या आख्यान कहा जा सकता है। पौराणिक इसलिए कि ये पुराणों में पायी जाती है। प्राचीन होने के कारण भी इन्हें पौराणिक कहा जाता है। इन कथाओं की आधार भूमि देवी–देवताओं का वर्णन, प्राकृतिक तत्त्वों (जल, आकाश, वायु) आदि का निरूपण होता है। संसार की महान कही जाने वाली शक्तियों से जुड़ी होने के कारण इन कथाओं में आश्चर्य और आतंक के स्थान पर कल्पना की प्रधानता रहती है। जबकि लोक कथाओं में इनके द्वारा मनोरंजन किया जाता है। पौराणिक कथाओं का धार्मिक आधार होता है परन्तु लोक कथा में प्रायः सामान्य जन–जीवन से जुड़े प्रसंग होते हैं।

पौराणिक कथाओं का आधार प्रायः सत्य माना जाता है किन्तु लोक कथाओं का मिथ्या। सम्भवतः इसलिए कि पौराणिक कथाओं का आधार धर्म होता है। देवी–देवता, दैवी घटनाओं की चर्चा होती है जिसे जनजाति सत्य मानती हो। इनका वास्तविक आधार आस्था है। लोक कथाओं की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कई मत एवं सिद्धान्त हैं जिनमें कुछ प्रमुख की चर्चा यहाँ है। 'प्रसारवाद का सिद्धान्त' लोक कथाओं के बारे में यह मत रखता है कि जैसे भाषा एक स्थान से दूसरे स्थान पर प्रसारित होती है उसी प्रकार लोक कथाएँ भी एक समाज से दूसरे समाज में प्रसार पाती हैं। कुछ विद्वानों ने लोक कथाओं की उत्पत्ति भारत या मेसापोटामिया को माना है। परन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं लगता। यदि ऐसा होता तो संसार की सभी लोक कथाएँ एक समान होतीं। यह कहना तो उचित लगता है कि लोक कथाओं का प्रसार होता है। ये सात समुन्दर पार कर दूसरे देशों में पहुँच जाती हैं परन्तु इनका जन्म भारत में हुआ है इसका कोई ठोस आधार नहीं मिलता।

लोक कथाओं की उत्पत्ति के विषय में दूसरा सिद्धान्त प्रकृतिरूपक वाद है। इस मत के अनुसार प्रकृति में जितने रूप एवं घटनायें हैं कल्पना के माध्यम से रूपक बनाकर इन लोक कथाओं में सांकेतिक वर्णन मिलता है। चाँद की कलाओं का घटना–बढ़ना, समुद्र का शान्त रहना और पूर्णिमा का मर्यादाहीन होना, बिजली का गिर पड़ना आदि घटनाओं को देखकर मानव इनका आधार कथा में बनाता है। इस मत के परिप्रेक्ष्य में यह मानना आवश्यक है कि यदि हम इस मत को मानते हैं तो हमें 'प्रसारवाद' को मानना पड़ेगा क्योंकि ये कथाएँ प्रसार के द्वारा ही एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचती हैं। मनोविश्लेषणवाद का प्रभाव भी लोक कथाओं पर पड़ता दिखाई देता है। एक राजा की सात रानियाँ थीं। सात रानियाँ ही क्यों? एक क्यों नहीं? क्योंकि मनुष्य की कामवासना एक से पूरी नहीं होती। ऐसा मनोविश्लेषणवादी चिंतक फ्रायड का मानना है। यह बात कुछ लोक कथाओं पर सही बैठ सकती है सब पर नहीं। इसके साथ ही मनोविश्लेषणवादी विचारकों का यह भी मानना है कि मनुष्य अपनी अपूर्ण इच्छाओं की पूर्ति के लिए कला एवं साहित्य–सृजन भी करता है। इसी की पूर्ति के लिए मानव ने लोक कथाओं का निर्माण किया है। यह मत थोड़ा विश्वसनीय माना जा सकता है।

विचारकों ने व्याख्यावाद को लोक कथाओं की उत्पत्ति का सिद्धान्त माना है। पौराणिक कथाओं में भी यह सिद्धान्त था। चिकित्सा सम्बन्धी सिद्धान्तों की व्याख्या भी इसके द्वारा की जाती है। जैसे चिकित्सा–शास्त्र में लहसुन को अमृत माना गया है। एक कथा के माध्यम से इसकी उत्पत्ति एवं उपयोगिता पर प्रकाश पड़ता है। समुद्र मंथन के समय जो अमृत उत्पन्न हुआ उसे पाने के लिए देवता और असुर आपस में लड़ने लगे। गरुड़ आकर उस कलश को उठा ले जाते हैं। ले जाते समय अमृत छलक कर नीचे गिर पड़ता है जिससे लहसुन की उत्पत्ति हुई है। इस सिद्धान्त को लोक कथा की उत्पत्ति का एक कारण माना जा सकता है परन्तु सर्वमान्य नहीं। विकासवाद के सिद्धान्त के समर्थक टाइटलर के मतानुसार समाज में मानव की समानता के कारण सभी मनुष्यों का चिन्तन एक समान होता है। सिंड्रेला की एक कथा का उल्लेख करते हुए बात स्पष्ट की जा सकती है। एक बार सिंड्रेला की माँ एवं बहनों ने मिलकर उसे बन्द कर दिया और उसके साथ दुर्व्यवहार किया। प्रायः उसकी सौतेली माँ उस पर अत्यधिक अत्याचार करती थी। उसकी अपनी माँ ने चूहे का रूप धारण करके उसका बंधन काटा और उसे बचाया। वह भागकर राजकुमार के पास जा पहुँचती है। उससे विवाह करके सुखमय जीवन जीने लगती है। ऐसी कुछ कहानियाँ तो हो सकती हैं परन्तु कहानियों का जन्म विकासवाद सिद्धान्त से हुआ हो यह मानना उचित नहीं है।

यथार्थवाद का सिद्धान्त भी लोक कथाओं की उत्पत्ति का एक कारण माना जा सकता है। आदिवासियों की प्रवृत्ति रही है कि वे घटनाओं को दुहरा–दुहरा कर कहते रहते हैं। इस प्रकार ये कथाएँ एक कान से दूसरे कान तक पहुँचती रहती हैं। इनका रूप–रंग भी बदलता रहता है। पात्र, घटनाए, उद्देश्य तक बदल जाते हैं। कई बार एक

नयी कथा जन्म ले लेती है जिसका आदि रूप यथार्थ ही होता है। इन सभी सिद्धान्तों में एकांगीपन है। फिर भी इनसे ही लोक कथाओं की उत्पत्ति मानी जा सकती है। आपसी सम्पर्क से ही भाषां, व्यवहार एवं संस्कृति का प्रचार–प्रसार होता है। भारत ही इन लोक कथाओं का उद्गम स्थल है। जहाँ से ये कथाएँ फैलती हैं। समूचे विश्व में इनका अनुवाद होता है। यही कारण है कि सभी लोक कथाओं के तार एक दूसरे से जुड़ते हैं। जहाँ इन कथाओं में असमानता दिखाई देती है वहाँ पर आचार–विचार, प्रथाएँ–परम्पराएँ तथा भौगोलिक परिवेश उत्तरदायी होता है। कुछ लोक कथाएँ मिट्टी के अनुरूप अवश्य रची गई होंगी। मोटिफ (अभिप्राय) की दृष्टि से देखा जाए तो स्पष्ट होगा कि संसार की सभी लोक कथाएँ एक सी लगती हैं।[5]

लोक कथाओं के विभिन्न रूप एवं उनमें पायी जाने वाली विशेषताओं से भी अवगत होना आवश्यक है। लोक कथाओं का अध्ययन एवं मनन करने पर स्पष्ट होता है कि इनमें प्रेम का तत्त्व अवश्य छिपा होता है। कहीं माता का सन्तान के प्रति, कहीं बहन एवं भाई के प्रति तो कभी पति–पत्नी का प्रेम और सबसे अधिक प्रेमी–प्रेमिका का विलक्षण प्रेम इन कथाओं में पाया जाता है। ये कथायें अश्लील चित्रण से बचती हैं। इनमें मन की घुटन, दमित वासनाएँ एवं प्रेम का विलासी रूप नहीं पाया जाता। त्याग का आदर्श एवं साहस का उत्कर्ष इन कहानियों का प्राण तत्त्व होता है। मानव–जीवन की मूल प्रवृत्तियों सुख–दुःख, आशा–निराशा, काम, क्रोध, मद, लोभ, एषणा आदि ऐसी ही प्रवृत्तियाँ हैं जो सदा बनी रहती हैं। आजकल की कहानियाँ जीवन की एक छोटी घटना को लेकर लिखी जाती हैं परन्तु लोक कथाएँ जीवन की मूल प्रवृत्तियों को लेकर रची जाती हैं। इनमें मंगल कामना का भाव होता है। इनका लेखक कथा के माध्यम से शांति की कामना करता है। प्रायः इन कथाओं का अन्त सुखान्त होता है। संयोग से ही समापन होता है। राजा–रानी मिल जाते हैं और राजपाठ करने लगते हैं। भारतीय दर्शन का मूल भाव यह है कि इसमें दुःखवाद को स्थान नहीं दिया गया है। प्रायः लोक कथा के अन्त में यह वाक्य आता है 'जैसे उनके दिन लौटे वैसे सभी के लौटें।'

कुछ कथाओं में अलौकिक वर्णन भी पाया जाता है। इनका वर्ण्य–विषय भूत–प्रेत, पिशाच, डाइन, दानव, असुर–आसुरी, गन्धर्व, किन्नर, परी आदि होते हैं। इनमें अद्भुत रस की प्रधानता रहती है। ऐसी कथाएँ पाठकों के मनोरंजन का प्रधान कारण होती हैं। इनमें राजाओं के अद्भुत पराक्रम, अलौकिक वीरता के भी दर्शन होते हैं। एक अखण्ड कौतूहल जगाने वाली इन कथाओं का विस्तार भी छोटा लगता है। कथा के अगले अंश को सुनने का सस्पेंस सदैव बना रहता है। साधारण लोग भी इन्हें चाव से अन्त तक सुनते हैं। अब इसके आगे क्या हुआ का भाव बना रह जाता है। वर्णन इतना स्वाभाविक होता है कि कहीं से कृत्रिमता की गन्ध नहीं आने पाती। कल्पना इतनी जीवन्त होती है कि कहीं से भी अविश्वास नहीं लगता। राजा–रानी, पोखरा के सात घाट सात धातुओं के बने हुए, रानी का आधी रात को नहाने के लिए आना, राजा का पेड़ के कोटर में से छिपकर

देखना, रानी नहाती है पाँच मुट्ठी बालू फाँककर चल देती है, पाँच अंजुलि पानी पीकर तप करती हैं। पोखरे से यक्ष मिलता है इत्यादि–इत्यादि।

प्रायः इन कहानियों का प्रारम्भ राजा–रानी से होता है। राजा शिकार खेलने निकलते हैं और रास्ता भूल जाते हैं। एक ऋषि कन्या मिलती है जो राजा को वन में आश्रय देती है। राजा प्रसन्न होकर उससे विवाह कर लेते हैं। कुछ दिन उसके साथ रहने के बाद उन्हें घर की सुधि आती है। सपत्नी वापस लौटते हैं। रानी के साथ–साथ पूरा जीवन बिताते हैं। इन कहानियों को गुनने पर स्पष्ट होता है कि यहाँ प्रेम का केवल छलावा वाला रूप नहीं है बल्कि सम्बन्धों के प्रति सच्ची निष्ठा दिखाई देती है। ऋषि कन्या का एहसान राजा भूलते नहीं हैं बल्कि उसे पत्नी का दर्जा देकर राजमहल में रखते हैं। इन कहानियों में बहुपत्नी प्रथा सम्भवतः इसीलिए वर्णित है। इन कहानियों के अन्त प्रायः सुखान्त होते हैं। राजा–रानी मिल गये और राजपाठ करने लगे। इन कहानियों में मुहावरे, लोकोक्तियाँ, वाक्यांश या पद्यांश भी प्रयुक्त होते हैं जैसे 'चिठिया हो तो सब कोई बाँचे करम न बाँचे कोय'। इन कहानियों में रूप वर्णनों, प्रकृति–खण्डों (पहाड़, सरोवर, नदी, पेड़, निर्जन वन) बाजार, साज–सज्जा का खास सन्दर्भों में उल्लेख होता है। विभिन्न प्रकार के अलंकारों का प्रयोग भी इनमें पाया जाता है। आभूषणों का वर्णन, घोड़ों, हाथियों, रथों, भोज और राज दरबार का विचित्र वर्णन भी लोक कथाओं में स्वाभाविक ढंग से पाया जाता है।

आजकल कही जाने वाली कहानियों एवं लोक कथाओं में काफी अन्तर पाया जाता है। लोक कथाओं की कथा वस्तु एवं आकार छोटा होता है परन्तु आधुनिक कहानियों का आकार बड़ा होता है। लोक कथा कहने वाला कहानी कला के तत्त्वों से अनभिज्ञ होता है परन्तु आधुनिक कथाकार इनसे भलीभाँति परिचित होता है। लोक कथाओं में भूत, प्रेत आदि का समावेश होता है परन्तु कहानी का कथानक समाज की ज्वलंत समस्याओं से रूबरू होता है। लोक कथाएँ सामान्य शैली में चलते हुए कौतूहल बनाये रहती हैं। कहानी की भाषा शैली आलंकारिक होती है। लोक कथाओं की भाषा एवं उद्देश्य आदर्श रूप में होते हैं जबकि आज की कहानी का आधार यथार्थपरक होता है। लोक कथाएँ प्रायः मौखिक होती हैं (आजकल कुछ लोक कथाओं का संग्रह प्रकाशित हुआ है) परन्तु आधुनिक कहानियाँ लिखित रूप में होती हैं। लोक कथायें प्रायः गम्भीर चिंतनपरक विचारों से मुक्त होती हैं जबकि आजकल लिखी जाने वाली कहानियाँ बौद्धिकता से बोझिल होती हैं। लोककथा आदिम सभ्यता का इतिहास है तो आधुनिक कहानी आजकल के जीवन का।

लोक गाथा और धर्म गाथा में भी अन्तर है। ''लोक साहित्य का वह अंश जो कहानी के रूप में प्रकट तो होता है, पर जिसके द्वारा अभीष्ट होता है किसी ऐसे प्राकृतिक व्यापार का वर्णन जिसे साहित्य स्रष्टा ने आदिम काल में देखा था और जिसमें धार्मिक

भावना का पुट भी है, वह धर्म गाथा कहलाती है। इसके अतिरिक्त समस्त प्राचीन मौखिक परम्परा से प्राप्त कथा गीत साहित्य भी लोक साहित्य कहलाता है।"[6] लोक कथा के समानान्तर एक शब्द है लोक गाथा। प्रश्न यह उठता है कि इन दोनों में कितनी समानता है और कितना अन्तर है। लोक गाथाओं के रचनाकार का नाम अज्ञात होता है और लोक कथाकारों का भी। दोनों की प्रामाणिकता संदेहास्पद है। दोनों की प्रवृत्ति मौखिक है। किन्तु लोक गाथाओं का कथानक लम्बा होता है और लोक कथाओं का छोटा। लोक गाथाएँ गीतात्मक होती हैं (सारंगा सदावृक्ष तथा सोरठा वृजभार की कथा) जबकि लोक कथाएँ गद्यात्मक। लोक गाथाओं में नैतिकता का अभाव होता है जबकि लोक कथाएँ नैतिकता पर बल देती हैं। यही बात हम आदर्श के लिए भी कह सकते हैं।

लोक कथाएँ कितने प्रकार की होती हैं अथवा इनका वर्गीकरण किस एवं किन आधारों पर किया गया है इस पर विद्वानों में मतभेद है। प्राचीन आचार्यों ने कथा के दो भेद किये हैं— कथा और आख्यायिका। कथा उस कहानी को कहते हैं जो लेखक की कल्पना से प्रसूत होती है जबकि आख्यायिका का आधार ऐतिहासिक घटना होती है। बाणभट्ट की 'कादम्बरी' तथा दंडी का 'दशकुमारचरित' इसी कोटि में रखे जा सकते हैं। बाण का हर्षचरित आख्यायिका का सुन्दर उदाहरण है। आनन्दवर्धन ने कथा के तीन भेद किये हैं। 1. परिकथा, 2. सकलकथा और खंडकथा। परिकथा में इतिवृत्तात्मकता अधिक होती है। सकलकथा में फल प्राप्ति पर्यन्त समस्त कथा का सन्निवेश होता है। खंडकथा एक देश प्रधान होती है। हरिभद्राचार्य ने अर्थकथा, कामकथा, धर्मकथा और संकीर्णकथा जैसे चार भेद बताये हैं। अर्थकथा का वर्ण्य विषय अर्थ प्राप्ति होता है। कामकथा में प्रेम के वर्णन की प्रधानता दिखाई जाती है। ऐसी कथाएँ अधिक पायी जाती हैं। धर्मकथा का आधार धार्मिक आख्यानों से होता है। संकीर्णकथा के प्रेमी मध्यम श्रेणी के कहे गये हैं। डॉ0 कृष्णदेव उपाध्याय ने वर्ण्य विषय की दृष्टि से लोक कथाओं को छः प्रकार का बताया है— नीतिकथा, व्रतकथा, प्रेमकथा, मनोरंजन कथा, दंतकथा और पौराणिक कथा।

हमारा लोक—जीवन इन लोक कथाओं से तर—बतर है। प्रायः नीति सम्बन्धी कथाएँ हमारे उस लोक में जीवित हैं जिनके ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं हैं। सभ्यता के प्रभाव से दूर रहने वाली अपनी सहजावस्था में वर्तमान जो निरक्षर जनता है, उसकी आशा—निराशा, हर्ष—विषाद, जीवन—मरण, हानि—लाभ, सुख—दुःख जैसी भावनाओं की अभिव्यक्ति इस साहित्य में व्याप्त होती है। 'पंचतंत्र' एवं 'हितोपदेश' की कहानियाँ इसी कोटि की हैं। इनके नाम से स्पष्ट होता है कि इनका उद्देश्य लोक कल्याणकारी है। इन संग्रहों में पक्षियों एवं पशुओं के मुँह से कहानियाँ कहलवाकर नीतिपरक उपदेश दिया गया है। 'तिरिया चरित्तर' नामक कहानी में ऐसी स्त्री का उल्लेख है जो मायावी होती है तथा पुरुषों को प्रताड़ित करती है। इस कथा के माध्यम से कथाकार ने यह संकेत किया है कि पुरुषों को ऐसी दुष्ट स्त्रियों से बचना चाहिए।

हमारा सामाजिक जीवन धार्मिक आयोजनों पूजा—पाठ से ऊर्जा प्राप्त करता है। धार्मिक क्रिया—कलापों से जीवन को गति एवं शक्ति मिलती है। इन व्रतों के सम्बन्ध में अनेक कथाएँ प्रचलित हैं। जैसे संतोषी माँ की कथा, सत्यनारायण व्रत कथा, जीवितपुत्रिका व्रत कथा एवं वृहस्पतिवार व्रत कथा आदि इसी कोटि की कहानियाँ हैं। इनमें धार्मिक कृत्यों के साथ—साथ दुराचार से बचने, सदाचार से जुड़ने का प्रस्ताव है। देवी—देवताओं के माहात्म्य से जुड़ी ये कथाएँ मनुष्य को बेहतर मनुष्य बनने एवं बनाने की शिक्षा देती हैं। यहाँ वरदान है, अभिशाप है। दण्ड है, नाश है। सोने का राई और धन—धान्य को पत्ता बनाना है। इन कथाओं में प्रयुक्त धार्मिक चिह्नों का भी प्रतीकात्मक अर्थ है। जैसे स्वास्तिक कल्याण का प्रतीक है। पुत्र जन्म, विवाह अथवा कोई धार्मिक या मांगलिक उत्सव हो, उसका प्रारम्भ स्वास्तिक से ही होता है। हमारे देश में स्वास्तिक का प्राचीनतम अंकन हड़प्पाकालीन मोहरों पर पाया जाता है। जहाँ इसके विविध रूप अंकित हैं। स्वास्तिक मानव जीवन का एक विलक्षण प्रतीक है। इसकी एक विश्वव्यापी परम्परा रही है। वैदिक साहित्य में कल्याणकारी स्वास्तिक मण्डल का उल्लेख पाया जाता है। कनिंघम ने 'स्वस्ति' शब्द का अर्थ तथा व्युत्पत्ति 'सु' तथा 'आस्ती' शब्दों से बना मानकर इसका अर्थ 'अच्छा है' अथवा 'कल्याणमय है' किया है। इसी प्रकार जैन और बौद्ध साहित्य में भी स्वास्तिक एक अष्ट मांगलिक चिह्न बताया गया है। वास्तुशास्त्र का ग्रन्थ 'वास्तुसार प्रकरण' और 'अपराजित पृक्षा' (सूत्र 221, पंक्ति—8) के अनुसार स्वास्तिक सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ का चिह्न था। महाभारत के द्रोण पर्व में कहा गया है कि दरबार में जाने से पहले युधिष्ठिर जिन मांगलिक द्रव्यों के दर्शन किया करते थे, उनमें स्वास्तिक भी थे। सुश्रुत मुनि ने शुभ—शकुन के रूप में स्वास्तिक का उल्लेख किया है। 'भारतीय कला प्रतीक' के रचनाकार ने लिखा है कि स्वास्तिक की उपस्थिति से जीवन में सुख, आरक्षा तथा कल्याण की संवृद्धि का संकेत था। स्वास्तिक को सूर्य का प्रतीक भी माना जाता है। भारतीय सिक्कों में भी इसका अंकन हुआ है। भारत में अत्यधिक सम्मान पाने के कारण संभवतः असीरिया, इंग्लैण्ड, साइप्रस, सीरिया, फ्रांस, इटली, नार्वे, स्वीडन, स्पेन आदि देशों में इसे उपकरणों मृद्भाण्डों एवं सिक्कों पर उत्कीर्ण किया गया है।

स्वास्तिक की भाँति लोक कथाओं में कलश का उपयोग भी बहुत मिलता है। वेदों में इसे सोम, अमृत से परिपूर्ण कहा गया है। लोक कथाओं में अंकों का भी विशेष महत्त्व है। जैसे— सात सरोवर, सात घाट, सात समुन्दर, सात योजन, सात अंजलि, सात गाँठ हल्दी, सात फेरे, सात सोपान आदि। सात दिनों का सप्ताह तो है ही सप्तनदियों (गंगा, यमुना, गोदावरी, सरस्वती, नर्मदा, सिन्धु एवं कावेरी) सप्त पर्वत (महेन्द्र, मलय, महाशक्तिमान, विन्ध्य, परियात्र और ऋक्ष) सात औषधियों एवं धार्मिक अनुष्ठानों में सात कूपों के जल एवं सात देश की मिट्टी का उल्लेख है। दही लिए दहेड़िन, ग्वालिन, कोहबर में सूरज, चाँद, सितारे, पशु—पक्षियों के जोड़े बनाये जाते हैं। आड़ी—तिरछी रेखाओं से मानव आकृति, देवी—देवताओं का विराट चरित्र चित्रों एवं शब्द चित्रों के माध्यम से व्यक्त

होता है। अनेक प्रकार के वृक्षों का उल्लेख भी किया जाता है जिनमें आम, पाकड़, वट, पीपल, तुलसी, कदली प्रमुख हैं। लोक कथाओं में पशु–पक्षी बोलते हैं, शास्त्रार्थ करते हैं। वृक्ष भी मौन नहीं हैं। उनमें संवेदना है। रानी को रोते हुए देखकर वन के पत्ते झड़ जाते हैं।

लोक जीवन में अनेक ऐसे व्रत त्यौहार हैं जैसे–गोधना (गोवर्धन पूजा, पिड़िया, जीवित पुत्रिका, ललही छठ आदि) इनमें अनेक लोक कथाओं को कहकर रात्रि जागरण किया जाता है। रात भर एक के बाद एक कथा लोक जीवन के अनगिनत प्रसंगों से जुड़ी होती है। जैसे जीवित पुत्रिका व्रत कथा में चीलो और सियारो (चील एवं सियारिन) के माध्यम से श्रम एवं तप का महत्त्व बताया गया है। भोजपुरी क्षेत्र में लहरदार गद्य के रूप में ये कथाएँ चलती हैं। साँप, बिच्छू, तंत्र–मंत्र, जोगी, साधू, शिव–पार्वती को लिए हुए ये कथाएँ काम करने वाले हाथों, भूख और व्रत को एक करने वाली हैं। चमत्कारी यह है कि कई तरह की भूखों को, उपवासों को धर्म के साथ कर्म को जोड़ने वाली ये कथाएँ विलक्षण हैं। जैसे पिड़िया कथा में रानी एवं दासी के बीच संवाद चलता है। रानी दासी से पूछती हैं कि क्यों तेरे सातों पुत्र जीवित हैं तेरा जियछि है। क्यों मेरे सातो पुत्र मर गये मरछि हुआ? कारण? रानी व्रत में भी खाती रहती हैं। उनका मुख सूखता नहीं। चेरी बिना व्रत के भी भूखी रहती है। उसका मुख सदैव सूखा रहता है। उसके हाथ गोबर एवं माटी में बझे रहते हैं। वह कर्म की उपासिका है। श्रम की साधिका है। त्याग उसके जीवन का लक्ष्य है। इसी से उसके पुत्रों को अमरत्व प्राप्त होता है। इसी प्रकार सात भाइयों की बहन सोनचिरैया का भौजाइयों द्वारा सताया जाना, चलनी में पानी लाने के लिए कहना, उसकी सहायता मेंढकियाँ करती हैं। बिना बंधन के (रस्सी) लकड़ी काटकर बाँध ा ले आना। ऐसी स्थिति में सर्प लकड़ी में लिपटकर घर तक पहुँचाता है। बिना ओखल का धान–कूटना सभी चिड़िया आकर उसका धान चोंच से फोड़ डालती हैं। हर परीक्षा में सोनचिरैया पास हो जाती है। अब भौजाइयाँ उसे काला कंबल धोकर उजला करने के लिए पोखरे पर भेजती हैं इस हिदायत के साथ कि जब तक कम्बल सफेद न हो जाए घर मत आना। सोनचिरैया जितना कंबल धोती है उतना ही रोती जाती है। बहुत समय बीत गया। न कंबल उजला होता है न वह घर आती है। इधर भौजाइयाँ मगन हैं कि चलो बला टली। लेकिन अन्त सुखान्त है। सोनचिरैया का दुःख कट जाता है। उसके सातों भाई परदेश से लौटकर आते हैं। सोनचिरैया का सारा वृतान्त सुनकर, उसका दुःख देखकर अपनी पत्नियों को घर से निकाल देते हैं। भाई–बहन सुख से रहने लगते हैं। 'जइसन सोनचिरइया क दुःख कटल ओइसे सब कर दुःख दूर होवे'।

साँस रोक कर सुनी जाने वाली ये कथाएँ जाने–अनजाने अनेक नीतिपरक उपदेश भी दे जाती हैं। साँप एवं रानी की प्रेमकथा में रानी राजा को मारने के अनेक उपक्रम करती हैं, पहेलियाँ बुझाती हैं परन्तु राजा की बहन आकर भाई की पहेली बूझकर

रक्षा करती है। गणेशजी के प्रसंगों की तमाम कथाएँ जिनमें श्राप–वरदान का भाव है। दान–दक्षिणा का महत्त्व है। ईर्ष्या, डाह का कुफल है। लोकजीवन में विभिन्न पर्वों पर इन कथाओं को सुन–सुनाकर उन्हें अलौकिक अर्थवत्ता से समृद्ध किया गया है। सोते समय आंगन में, कउड़े के पास जो कथाएँ कही जाती हैं उनमें मनोरंजन का भाव होता है। परन्तु पर्वों पर कही जाने वाली कथाओं में उपदेश एवं नीति का भाव रहता है। माता–पिता का प्रेम, भाई–बहन का प्रेम, पति–पत्नी का प्रेम तथा अनेक सम्बन्धों में अनिवार्यतः प्रेम की उपस्थिति लोक कथाओं का प्राण तत्त्व हैं। लोक कथा में दंत कथाओं का भी अद्‌भुत सम्मिश्रण देखने को मिलता है। मनोरंजन प्रधान कथायें जो दीर्घकाल से चली आ रही हैं उन्हें दंतकथा भी कहते हैं। इनमें कल्पना की प्रधानता होती है परन्तु इतिहास की उपेक्षा नहीं। राजा विक्रमादित्य के न्याय की, आल्हा–ऊदल के वीरता की कथाएँ गाकर सुनाई जाती हैं। सत्यवादी हरिश्चन्द्र की परीक्षा, सती सावित्री का त्याग भी लोक जीवन को ऊर्जा देने वाली कथाएँ हैं जो संभवतः गाँव में या कम पढ़े–लिखे लोगों के कारण जीवित हैं।

इसी क्रम में पौराणिक कथाओं का उपयोग भी लोक जीवन में बहुत अधिक किया गया है। गोपीचंद, भरथरी, श्रवण कुमार आदि की कथाएँ प्रसिद्ध हैं। नल–दमयंती, शिवि, दधीचि की त्यागपूर्ण कहानियाँ भी कही जाती हैं। यहाँ परियों की कहानियों की चर्चा आवश्यक है। ये परियाँ रोगी को रोगमुक्त तथा भूखे को भोजन देती हैं। मनुष्यों का अपहरण भी कर देती हैं और चुराकर परिस्तान ले जाती हैं। ये परियाँ उनसे विवाह भी करती हैं। परन्तु परियों के साथ ये मनुष्य सुखी नहीं रहते। वापस धरती पर आना चाहते हैं। दंत कथाओं (लीजेंड) तथा मिथ भी लोक कथा से जुड़े तत्त्व हैं। विक्रमादित्य के न्याय की कहानियाँ लीजेन्ड या दंतकथा की श्रेणी में आती हैं जबकि बलि को छलने की कलात्मक कथा मिथ। मिथ के प्रभाव के कारण ही चन्द्रमा का काला धब्बा सूत कातती बुढ़िया है। सूरज का रथ सात घोड़े खींचते हैं। देवता आकाश में रहते हैं। अलकापुरी हिमालय की ऊँची पहाड़ी पर है। मिथ से सम्बन्धित शास्त्र को माइथोलॉजी (पुराण शास्त्र) कहा जाता है।

इसी क्रम में मोटिफ (अभिप्राय) का अर्थ एवं कथाओं में इनकी उपयोगिता जान लेना आवश्यक है। कुमारी दुर्गा भागवत में इसके लिए 'कल्पना बंध' शब्द का प्रयोग किया गया है। परन्तु मोटिफ या अभिप्राय से तात्पर्य उन तत्त्वों से है जिनसे कथा में विशिष्टता आती है। इस प्रकार से प्रत्येक कथा में अलग–अलग अभिप्राय (मोटिफ) होता है। लोक कथाओं में विमाता या निर्दयी माता, दारुनिया सास, बैरिन निंदिया, नटखट ननद मोटिफ कहलायेंगे। विलक्षण बातें ही मोटिफ को जन्म देती हैं। सुन्दर वस्त्र एवं अलंकरण में कोई मोटिफ नहीं है किन्तु पगड़ी, जादुई घोड़ा, जादू की छड़ी, बेहोश करने वाली लकड़ी का टुकड़ा आदि मोटिफ हैं। भारतीय लोक कथाओं में शृंगाल को चालाक, शशक को धूर्त और गधे को मूर्ख तथा भार ढोने वाला बताया जाता है। ये सब मोटिफ हैं। कहानियों

में हीरामन तोते का मनुष्य की बोली में बोलना, लिल्ली घोड़ी पर चढ़कर भागना, कौवे तथा कबूतर से संदेशा भेजना भी मोटिफ माना जाता है। अवधी, मैथिली, मगही, बुन्देली लोक कथाओं में इनका प्रयोग बहुतायत है। इन्हीं से लोक कथाओं का श्रृंगार होता है।

छोटी सी लोककथा में आत्मबल एवं आत्मविश्वास को बढ़ावा देने की बात कही जाती है। इसी प्रकार हर एक लोककथा कुछ–न–कुछ संकेत करती रहती है। सादगी से कही जाने वाली ये कथाएँ जीवन को गति एवं दिशा देने में समर्थ हैं। इन कथाओं में लोक प्रचलित कुछ विशेष बातों का उपयोगी पुट भी रहता है। ये कथाएँ रात्रि में कही जाती हैं। संभवतः इसलिए कि दिन का समय काम–काज का होता है। दिन भर काम करने के बाद अपनी थकान मिटाने के लिए अथवा अवकाश के क्षणों में सत्कार्य में लगने के लिए रात्रि का समय अभीष्ट समझा जाता है। वास्तविकता कुछ भी हो रात्रि में न कहकर यदि दिन में कथा कही जाती है तो 'मम्मा रस्ता भूल जाते हैं।' इस भय से कोई स्त्री दिन में कथा नहीं सुनाती।

किसी भी देश एवं जाति की सभ्यता के विकास की, उसके जीवन की गतिविधि ा की और उसकी संस्कृति के विभिन्न स्तरों की झाँकी उसके लिखित साहित्य की अपेक्षा उसके मौखिक साहित्य में कहीं अधिक एवं मौलिक रूप से मिलती है। लोककथा मौखिक साहित्य का वह प्रमुख अंश है जिसमें हमें राष्ट्र के संस्कारों की प्राचीनतम एवं आदि संस्कृति का स्पष्ट आभास मिलता है। हम सब देशवासियों का यह पुनीत कर्तव्य है कि इन लोक कथाओं का प्रचार–प्रसार करें। इन्हें पढ़ें। इनके विषय में लिखें। इनकी रक्षा संस्कृति की रक्षा है। हमारे जीवन में इनकी उपयोगिता सदैव बनी रहेगी। भारत की लोक कथाएँ विदेशों में जाकर वहाँ के नाम, वेश, धर्म के स्थान, संस्कृति आदि के वातावरण में बदल जाती हैं, यह कथक्कड़ की उर्वर कल्पना शक्ति का कमाल है। भारत की आदिम जातियों के लोग पूर्वजों से सुनी कथाओं में उनके अप्रसन्न होने के भय और उनके शाप से बचने के लिए कोई परिवर्तन नहीं करते। पंचायती निर्णयों में इन कथाओं को प्रमाण स्वरूप रखते हैं। आदिवासियों के कथक्कड़ों की स्मृति तेज होती है। आज भी भीलों, बारेलाओं, गोंड़ों बैगाओं, कोलों, उराओं और संथालों में जब पंच फैसला देते हैं तो उनके समर्थन में ऐसी कहानी सुनाते हैं जो उनके निर्णय का समर्थन करती है।[7]

इक्कीसवीं शताब्दी में जहाँ एक ओर विश्व ग्राम की भूमिका रची जा रही है वहीं विभिन्न सांस्कृतिक, धार्मिक एवं साहित्यिक आयोजनों से लोककथा की अनिवार्य महत्ता प्रतिष्ठित की जा रही है। यह सब अकारण नहीं है। अनायास नहीं है बल्कि इनके पीछे लोक साहित्य को प्रतिष्ठित करने का सबल आग्रह है जिनके बिना साहित्य, संगीत और कला के मूल मर्म को समझना असंभव है। आज हम संचार माध्यमों से जुड़े हुए हैं। यांत्रिक कलाओं ने हमारे जीवन को अपने ढंग से परिभाषित किया है। हम जीवन एवं जमीन से दूर होते जा रहे हैं। ऐसी स्थिति में ये लोक कथाएँ ही हमें अपने मूल से, अपने मूल्यों से जोड़े रख सकती हैं। जब हमारे हाथ विकास के लिए ऊपर उठ रहे हों तब

हमें यह अवश्य विचार करना चाहिए कि हमारे पैरों के नीचे जमीन है कि नहीं। यही इन कथाओं की महनीयता है।

सन्दर्भ–सूची

(1) हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, षोडश भाग, पृ0– 109

(2) लोक साहित्य की भूमिका : डा0 कृष्णदेव उपाध्याय, पृष्ठ– 128–129

(3) वही पृ0 129–130

(4) लोक कथाएँ क्या बताती हैं? आजकल का लोककथा अंक, पृ0– 12

(5) लोक साहित्य : सिद्धान्त और प्रयोग, पृ0– 105–107

(6) लोक साहित्य विज्ञान, डॉ0 सत्येन्द्र, पृ0– 293

(7) लोक साहित्य सिद्धान्त और प्रयोग, डॉ0 श्रीराम शर्मा, पृ0– 130–131

समाज की दर्शन से अपेक्षाएँ

डॉ. अनामिका सिंह

दर्शन विभाग, आर्य महिला पी.जी. कॉलेज, वाराणसी।

1. दर्शनशास्त्र का स्वरूप और काल

दर्शनशास्त्र, अन्य शास्त्रों की अपेक्षा सनातन शास्त्र है, क्योंकि यह जीवन–जगत् से जुड़ी सनातन समस्याओं पर विचार करता है जैसे – जगत् की उत्पत्ति का कारण,जगत् के संचालन का नियम, जागतिक पदार्थों का ज्ञान, जागतिक पदार्थों व मनुष्यों का परस्पर सम्बन्ध, जीवन का पारमार्थिक लक्ष्य और उसकी प्राप्ति के उपाय आदि।[1] ऐसी सनातन समस्याओं पर विचार करने वाले शास्त्र को, काल की परिधि में बांधकर उसके भावी स्वरूप की कल्पना करने जैसे प्रश्न ही अपने आप में अप्रासंगिक हैं। फिर भी, वैदिक युग से लेकर आधुनिक युग तक के दार्शनिक चिंतन में विविधता और मतभेद दिखाई देते हैं और इसका कारण दार्शनिकों की भिन्न–भिन्न दृष्टियों को माना जा सकता है।[2] दूसरे शब्दों में, दार्शनिकों ने उक्त सनातन समस्याओं पर भिन्न–भिन्न दृष्टिकोणों से विचार कर दर्शन को नए–नए वैचारिक आयाम दिए हैं। यही नहीं, कालखण्ड विशेष में प्रादुर्भूत विचारों ने इन्हीं सनातन समस्याओं में से, तत्कालीन समस्या को पहिचान कर, उसके अनुरूप उसका समाधान कर, उस युग के चिंतन को एक नई पहिचान भी दी है।

दार्शनिक चिन्तन में काल के प्रभाव का एक प्रमाण यह भी है कि भिन्न–भिन्न कालों में इस चिन्तन के भिन्न–भिन्न पक्षों पर बल दिया गया है। किसी कालखण्ड में तत्त्वचिंतन का विशेष महत्त्व रहा तो किसी में प्रमाणविचार और आचारविचार को सर्वोपरि महत्त्व दिया गया। भिन्न–भिन्न पक्षों को महत्त्व देने के कारण तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों को मानना उचित प्रतीत होता है। अतः संक्षेप में, सामाजिक परिस्थितियाँ दार्शनिक मानस को प्रभावित करती हैं और दार्शनिक मानस से दर्शन के नए आयाम उभरते हैं। इस प्रकार दर्शन के स्वरूप और विकास में समाज की भूमिका एक महत्त्वपूर्ण घटक है।

2. दर्शन और समाज

परिवर्तनशील समाज सनातन समस्याओं से संघर्ष करने के साथ–साथ तत्कालीन समस्याओं के समाधान भी ढूँढ़ना चाहता है और इसमें दार्शनिक चिंतन उसका मार्गदर्शन करता है। इस मार्गदर्शन की प्रक्रिया में आवश्यकतानुसार अपनी दृष्टि से वह दर्शन के स्वरूप में भी संशोधन करता है। क्योंकि अन्ततोगत्वा दार्शनिक चिन्तन का लक्ष्य व्यक्ति और समाज को कष्टों से मुक्ति दिलाना, उसके पारमार्थिक लक्ष्य का विवेचन करना और उसके वास्तविक कल्याण का मार्ग प्रशस्त करना है। वेदान्त के ब्रह्म अथवा आत्मा के साक्षात्कार से आरम्भ दार्शनिक चिन्तन में बुद्ध के क्लेश–प्रहाण का जो पड़ाव आया वह दर्शन में समाज की भूमिका को रेखांकित करने का ऐतिहासिक प्रमाण है।

दार्शनिक चिंतन को समाज तक पहुँचाने वाले चार माध्यम दिखाई देते हैं। सन्तों अथवा विचारकों की साक्षात् वाणी से समाज, दर्शन का परिचय ग्रहण करता है। दूसरा माध्यम संस्थाएँ हैं। धार्मिक, सांस्कृतिक, शैक्षिक और समाजसेवी संस्थाओं की प्रवृत्तियों से समाज को दर्शन का परिचय प्राप्त होता है। तीसरा माध्यम शिक्षक हैं। औपचारिक कक्षाओं में दर्शनशास्त्र का शिक्षक, छात्रों को जो ज्ञान देता है वह भी दर्शन के परिचय का एक सशक्त आधार है। चतुर्थ माध्यम अनुसन्धान, लेखक और प्रकाशन आदि का है। दार्शनिक साहित्य के स्वाध्याय से पाठक चिंतन का मर्म ग्रहण करता है।

3. वर्तमान सामाजिक समस्याएँ और दर्शन

उपर्युक्त पृष्ठभूमि में यह विचारणीय है कि वर्तमान समाज किन समस्याओं का सामना कर रहा है क्योंकि समाज का भावी स्वरूप वर्तमान से ही पाथेय ग्रहण करेगा। भावी समाज का गठन, वर्तमान की नींव पर होना है। इसलिए भविष्य की दृष्टि से वर्तमान महत्त्वपूर्ण है।

वर्तमान समाज प्रमुख रूप से जिन गंभीर समस्याओं से संघर्षरत है उनमें उल्लेखनीय हैं– आध्यात्मिकता का ह्रास, सनातन और उदात्तमूल्यों का क्षय, अतिभौतिकता, अतिऔद्योगीकरण, धार्मिक आडम्बर, आर्थिक विषमता, धर्म, राजनीति, शिक्षा आदि क्षेत्रों में नेतृत्व की अविश्वसनीयता, मानवीय सम्बन्धों में शुष्कता आदि। इन कारणों से मनुष्य का मशीनीकरण हो रहा है। उसका शरीर और बुद्धिपक्ष चिंता का केन्द्रीय विषय बन गया जबकि हृदय और आत्मपक्ष उपेक्षित और धूमिल हो गए हैं। वह अच्छे और बुरे, क्षणिक और स्थाई तथा वास्तविक कल्याण और अकल्याण तथा विकास के सही और गलत लक्षणों और मार्गों के निर्णय से भटककर, विवेशशून्य होकर दिग्भ्रमित है। ऐसी परिस्थिति में उसका सही मार्गदर्शन सम्यक् ज्ञानी दार्शनिक ही कर सकता है। वह अतिभौतिकता की हानियों, अतिऔद्योगीकरण के खतरों, धार्मिक आडम्बर की निस्सारताओं, आध्यात्मिकता की ऊँचाइयों और क्षमताओं, आर्थिक विषमता के दुष्परिणामों, शारीरिक व मानसिक श्रम के मूल्यों की महनीयताओं, राजनीति आदि क्षेत्रों में सही नेतृत्व की भूमिकाओं, मानवीय सम्बन्धों में शुष्कता से अस्तित्व पर मँडरा रहे खतरों आदि से समाज को सावधान कर सकता है। यहाँ यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि इस भूमिका का निर्वाह धार्मिक, राजनीतिक आदि क्यों नहीं कर सकते? किन्तु इसका सहज उत्तर भी यही है कि धार्मिकों, राजनीतिज्ञों आदि को भी दृष्टि, दिशा और नेतृत्व प्रदान करना दार्शनिक का ही दायित्व है। धर्म और राजनीति आदि अपनी दिशाएँ दर्शन से ग्रहण करते हैं। इसलिए दर्शन ही वह शास्त्र है जो अन्य शास्त्रों को सुदृढ़ आधार देता है।[3] दार्शनिक से अधिक निष्पक्ष, तटस्थ, दूरदृष्टि–सम्पन्न और विवेकपूर्ण अन्य कोई वर्ग नहीं है। इसलिए

वर्तमान समाज हो या भावी समाज, अपने वास्तविक कल्याण के लिए उसको दर्शन की शरण में आना परमावश्यक है।[4] दर्शन और दार्शनिक तो अपने उटज में 'दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा' का मन्त्र जपते हुए शान्त और सुस्थिर बैठा है। समाज जब अतिदुर्दशाग्रस्त होते हुए भी दर्शन के द्वार पर दस्तक नहीं देता है और दार्शनिक अपनी ओर से कुछ करने का प्रयत्न करता भी है तो समाज उसकी नहीं सुनता है और तब वेद व्यास के माध्यम से उसे यह कहना ही पड़ता है – ऊर्ध्वबाहोः निरोम्येष नहि कश्चित् श्रृणोति माम्। (महाभारत)

संक्षेप में, निष्कर्ष यही है कि समाज को अपनी समस्याओं से मुक्ति के लिए नेतृत्व की लगाम दर्शन या दार्शनिकों को सौंपनी होगी। दर्शन के नेतृत्व का प्रभाव और मार्गदर्शन जैसे और जितना बढ़ता जाएगा, समाज तुलनात्मक रूप में वास्तविक विकास, सुख व कल्याण के पथ पर अग्रसर होता जाएगा।[5] समाज को यदि समस्याओं के समाधान की दर्शन से अपेक्षाएँ हैं तो दर्शन भी समाज से जिज्ञासा की अपेक्षा करता है जो सर्वथा समीचीन है।

सन्दर्भ

1. विस्तारार्थ द्रष्टव्य – शर्मा, आर.पी., तत्त्वमीमांसा एवं ज्ञानमीमांसा।
2. विस्तारार्थ द्रष्टव्य – राधाकृष्णन्, भारतीय दर्शन – I, II (मिश्र, उमेश, भारतीय दर्शन।
3. (a) आज दर्शन का क्षेत्र बड़ा व्यापक स्वीकार किया जाता है। इसके अनुसार दर्शन एक पद्धति या प्रक्रिया है (Method or Technique) A इसके अनुसार इसका कोई विषय नहीं है परन्तु यह सभी विषयों में सहायक है, सबके लिए आवश्यक है। यही कारण है कि आज विज्ञानदर्शन, विधिदर्शन, इतिहास दर्शन, गणितदर्शन, शिक्षादर्शन आदि रूप में दर्शन के विषय अत्यंत व्यापक बन गए हैं, सिंह, बी. एन, पाश्चात्यदर्शन की समस्याएँ एवं समकालीन दर्शन।
(b) There is no province of human experience, their is nothing in the whole realm of reality, which lies beyond the domain philosophy, or to which philosophical investigation does not apply, Caird, Philosophy of Religion, P.3.
4. विस्तारार्थ द्रष्टव्य, व्यास, सूर्यप्रकाश, दर्शन–कणिका, दर्शन की प्रासंगिकता (लेख)।
5. Until Philosophers are kings or the kings and princes of this world. Have the spirit and power of philosophy, cities will never have rest from evils, no nor the human race, as I belive. Pleto, Republic, Book-V, P. 203.

मानव अधिकार का प्रश्न

मुकेश कुमार मालवीय

सहायक प्राध्यापक एवं प्रधान संपादक–अधिकार एवं फिफटीन डेयस्, अन्तर्राष्ट्रीय शोध–पत्रिका, विधि–विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी (उत्तरप्रदेश) Email : mukesh9424@gmail.com

मानव अधिकार की अवधारणा 'स्वाभाविक न्याय' तथा मानव के "मूल अधिकारों" पर आधारित है। सभी मनुष्यों को समान अधिकार मिले। किसी एक की स्वतंन्त्रा दूसरे की स्वतंत्रता के मार्ग में बाधा न बने। संभवतः आज मानव जाति की चिन्ता रोटी, कपड़ा व मकान नहीं, बल्कि मानव जाति को ही समाप्ति के कगार पर लाकर खड़ा कर देने वाले आधुनिकतम हथियारों से रक्षा है, जो मानवकृत ही हैं अर्थात् जिससे मानव को मानव से खतरा है। दुनिया के विभिन्न देशों में दास प्रथा, इजराइलों, स्पार्टावासियों के प्रति अत्याचार जैसे अनगिनत उदाहरण है। महाभारत की बर्बरता और इतिहास के अनेक उदाहरण चिन्ता का कारण हैं इतिहास के उठते धुएँ से काली होती मीनारों को बचाने के लिए मानवाधिकारों के अस्तित्व का चिन्तन वर्तमान समाज का ज्वलंत प्रश्न है।

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर संयुक्त राष्ट्र संघ ने इस प्रश्न पर विचार विमर्श किया और संघ की आम सभा ने 10 दिसम्बर 1948 का इसे मान्यता प्रदान की। घोषणापत्र की प्रस्तावना में कहा गया– "संयुक्त राष्ट्र संघ के हम सभी व्यक्ति निश्चय करके छोटे–बड़े राष्ट्रों तथा स्त्री–पुरुष के समान तथा आधारभूत अधिकारों एवं गरिमा की संरक्षा के लक्ष्य को सामूहिक प्रयासों से पूरा करेंगे। संयुक्त राष्ट्र संगठन की सभा के 16 दिसम्बर 1966 के संकल्प संख्या 2200, के अनुसार मानव अधिकारों की दो श्रेणियों घोषित की गई :–

1. अन्तर्राष्ट्रीय मानवाधिकार घोषणा के अनुच्छेद 3 से 21 के अनुसार व्यक्ति के नागरिक व राजनीतिक अधिकार पहली श्रेणी में शामिल हैं।
2. दूसरी श्रेणी में इसी घोषणा के अनुच्छेद 22 से 27 तक वर्णित किसी समूह विशेषकर अल्पसंख्यक समूह के आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक अधिकार शामिल हैं।

विश्व में मानव या मानव समूह के प्रति अमानवीय व्यवहार का विरोध करने के लिए संयुक्त राष्ट्र संगठन ने अन्तर्राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग गठित किया जिसका मुख्य कार्यालय जिनेवा में स्थित है। इसके अन्तर्गत मानव के नागरिक व राजनीतिक अधिकार के उल्लंघन व संरक्षण के मामले दर्ज किए जाते हैं। यह तभी सुनवाई करता है जब राष्ट्रीय सरकार के दोष को घरेलू स्तर पर सुना जा चुका हो तथा राष्ट्रीय स्तर पर असन्तोष हो। इस मानवाधिकार आयोग में 18–सदस्यीय समिति गठित है। इसी प्रकार आर्थिक, सामाजिक व सांस्कृतिक परिषद भी गठित है, जिसमें मामलों की जांच 5–सदस्यीय समिति द्वारा की जाती है।

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर गठित इस आयोग ने कई महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर गंभीरता से विचार किया। उदाहरण के लिए, द्वितीय विश्व युद्ध में जापान के हिरोशिमा शहर पर बम बरसाया गया और लाखों लोगों की नृशंस हत्या कर दी गई। इसी प्रकार इजराइल, दक्षिण–अफ्रीका, चिली आदि देशों में अवैध बन्दीकरण और क्रूर व्यवहार के विरुद्ध विचार किया गया। दक्षिण अफ्रीका में गोरी सरकार द्वारा काली प्रजाति के प्रति हो रहे अत्याचारों पर गंभीरता से विचार किया गया।

अन्तर्राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग ने पाकिस्तान के ब्लासफेनी कानून अर्थात् वहां के अल्पसंख्याक समूह (अहमदिया) तथा क्रिश्चियनों की धार्मिक स्वतंत्रता को समाप्त किया गया था, के विरुद्ध कार्यवाई की।

कश्मीर घाटी में धार्मिक कट्टरता के नाम पर हो रही हत्याओं की आयोग द्वारा समय–समय पर जांच की जाती है। कहने का तात्पर्य है कि किसी भी देश या सकरार को मानव अधिकारों के हनन के मामले में अन्तर्राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग तलब करता है और इन पर समाधान करने का प्रयास भी किया जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग की तर्ज पर ही भारत में राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग गठित किया गया है। संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा घोषित मानवाधिकार घोषणा की भावना की रक्षा के प्रति भारत सरकार ने समर्थन एवं वचनबद्धता 1978 में प्रकट की। भारत मे इस आयोग का औपचारिक गठन 28 सितम्बर, 1993 को राष्ट्रपति के मानवाधिकार संरक्षण अध्यादेश 1993 के बाद हुआ। वैसे भारत में इससे पहले भी निम्नलिखित आयोग गठित थे–

क) अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों के लिए राष्ट्रीय अनुसूचित जाति एवं जनजाति आयोग, 1990

ख) राष्ट्रीय महिला आयोग, 1990

ग) राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग, 1992

इन आयोगों का कार्य विभिन्न वर्गो के लिए मानवाधिकार के उल्लंघन के विरुद्ध संरक्षण है। इन आयोगों के निरन्तर प्रयासों के कई उदाहरण रोज हमारे सामने आते हैं।

राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग का गठन 1993 में न्यायमूर्ति रंगनाथ मिश्र की अध्यक्षता में किया गया। आयोग स्व–प्रेरणा से या शिकायत मिलने पर कार्यवाई करता है। आयोग सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 के अनुसार किसी भी व्यक्ति को बुलाकर शपथ दिलाकर उसकी परीक्षा कर सकता है, साक्ष्य ग्रहण कर सकता है, किसी न्यायालय या कार्यालय से कोई अभिलेख या प्रतिलिपि मंगवा सकता है।

भारतीय संविधान में वर्णित मानवाधिकारों का स्वरूप इस प्रकार है–

अनुच्छेद 19 (1) – भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, बिना हथियार शांतिपूर्वक एकत्रित होना, संघ एवं संगठन बनाना, भारतीय सीमा क्षेत्र में विचरण करना भारत के भू–क्षेत्र में कहीं भी रहना या बसना, कोई भी व्यवसाय करना।

अनुच्छेद 20 (1) – किसी भी आरोपित अपराधी को स्वयं के विरुद्ध साक्षी के रूप में आने के लिए मजबूर नहीं किया जाएगा।

अनुच्छेद 21 – व्यक्ति को जीवन एवं स्वतंत्रता का अधिकार।

अनुच्छेद 22 (1) – गिरफतार व्यक्ति को उसकी गिरफतारी के आधारों से अवगत कराना तथा विधि सलाहकार की सहायता देना।

अनुच्छेद 22 (2) – गिरफतार व्यक्ति को 24 घंटे में नजदीकी मजिस्ट्रेट के समक्ष पेश करना तथा बिना मजिस्ट्रेट की आज्ञा के इस अवधि से अधिक नहीं रखना।

अनुच्छेद 32 (1) – इन मौलिक अधिकारों की रक्षा के लिए सर्वोच्च न्यायालय तक जाने का अधिकार

अनुच्छेद 32 (2) – इस अधिकारों की रक्षा के लिए सर्वोच्च न्यायालय को समुचित आदेश जारी करने की शक्तियां दी गई हैं।

भारतीय दंड संहिता – अध्याय 9 और धारा 376 (2) में पुलिस की ज्यादतियों के विरुद्व सजा का प्रावधान है।

साक्ष्य अधिनियम – धारा 25 के अनुसार किसी पुलिस अधिकारी के समक्ष दिया गया बयान मान्य नहीं होगा। धारा 26 के अनुसार बिना मजिस्ट्रट की आज्ञा के व्यक्तियों को 24 घंटे से अधिक गिरफतार नहीं रखा जा ससकता। धारा 176 के तहत प्रत्येक अभिरक्षित मृत्यु की जांच कार्यपालक मजिस्ट्रेट करेगा।

जेल अधिनियम, 1894 – राष्ट्रीय सुरक्षा अधिनियम या एन डी पी एस आदि कई नियम हैं जो मानव अधिकारों से सीधे जुड़े हैं।

राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग के बाद अब सरकार का प्रयास है कि प्रत्येक राज्य में राज्य स्तर के कार्यो की देखभाल के लिए आयोग बना दिया जाए। यह कहना समुचित होगा कि मानव जाति के विकास क्रम को आगे बढ़ाने के लिए उनके अधिकारों की सुरक्षा अति आवश्यक है। यदि मानवाधिकारों का हनन हो तो संभवतः जानवर और मानव का भेद मिट जाएगा। वास्तव में स्वतंत्रता की परिभाषा का मूलाधार ही दूसरों की स्वतंत्रता व अधिकारों में हस्तक्षेप किए बिना स्वतंत्रता के अधिकार को प्रदान करना है।

मानवाधिकार संबंधी कानून बना दिए जाने और संविधान में इनको शामिल किए जाने भर से दायित्व की इतिश्री नहीं हो जाती। वस्तुतः इसका कार्यान्वयन सबसे महत्वपूर्ण है। इसका दायित्व प्रत्यक्ष रूप से पुलिस को सौंपा गया है। नागरिकों के जीवन और सम्पति की रक्षा का भार पुलिस संगठनों को सौंपा गया है। इसलिए मानवाधिकार के मुद्दे पर पुलिस की भूमिका महत्वपूर्ण है। इस पर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर कोड बनाया गया। दिसम्बर, 1979 को संयुुक्त राष्ट्र की आम सभा ने पुलिस कोड स्वीकार किया तथा कहा पुलिस शक्तियों का प्रयोग करने वाले सभी अधिकारियों से अपेक्षा की जाती है कि वे सभी व्यक्तियों के मावाधिकार तथा मानव गरिमा की संरक्षा एवं सम्मान करेंगे।'' इस कोड में आठ धाराएँ इस प्रकार हैं :–

1. ड्यूटी के दौरान सभी व्यक्तियों के मानवाधिकारों तथा मानव गरिमा की संरक्षा एवं सम्मान करेंगे।

2. ऐसे अधिकारियों के पास जो गोपनीय प्रकृति के मामले हों, उन्हें अन्यथा अनिवार्यता न होने की स्थिति के अलावा गोपनीय ही रखा जाएगा।

3. वे सभी अधिकारी कानून प्रदत ड्यूटी को सभी व्यक्यिों की रक्षा व समुदाय की सेवा तत्काल उपलब्ध कराई जाएगी।

4. पुलिस द्वारा बल प्रयोग अति आवश्यक तथा अत्यल्प मात्रा में किया जाएगा।

5. गिरफतार व्यक्ति के स्वाथ्य का पूरा ध्यान रखा जाएगा। आवश्यकता पड़ने पर उसे स्वास्थ्य सेवा तत्काल उपलब्ध कराई जाएगी।

6. अमानवीय या निम्न श्रेणी के व्यवहार यातना या अत्याचार से संबंधित कृत कोई अधिकारी न करेगा, न करने के लिए प्रेरित करेगा और न सहन करेगा। युद्ध या गृहयुद्ध जैसी असामान्य स्थितियों में भी इस प्रकार के व्यवहार का सहारा नहीं लिया जाएगा।

7. कोई भी पुलिस अधिकारी भ्रष्टाचार में लिप्त नहीं होगा और ऐसे कृत्यों का कठोरता से सामना करेगा।

8. सभी अधिकारी कानून के साथ–साथ इस कोड का भी सम्मान करेंगे। इनके उल्लंघन संबंधी मामले सामने आने पर विरोध करते हुए इसकी सूचना अपने उच्चाधिकारियों और सक्षम अधिकारियों को देंगे।

इन सभी धाराओं के साथ इनके विस्तृत उल्लेख भी हैं। प्रत्येक धारा की टीका भी दी गई है जिसमें आचरण के प्रत्येक सिद्धान्त को भली भाँति समझ कर व्यावहारिक रूप में लाने का प्रयास किया जाना चाहिए। इस कोड पर कितना अमल किया जाता है कितना नहीं, इसकी निगरानी भी की जानी जरूरी है। इसके लिए पुलिस को पर्याप्त दिशा निर्देश दिए गए हैं और समय–समय पर सतर्क किया जाता है उदाहरणार्थ–

1. बिना किसी आधार के गिरफतारी न किया जाए और यदि की जानी अनिवार्य हो तो केस डायरी में अंकित होनी चाहिए।

2. पुलिस गिरफतारी का कारण बताते हुए, व्यक्ति के परिवार को सूचित किया जाए।

3. महिलाएं और नाबालिक बच्चों को शाम को न तो थाने बुलाया जाए और न ही रिमांड में लिया जाए। यदि किसी अपरिहार्य स्थितियों में ऐसा करना पड़े तो उच्च अधिकारियों को सूचित किया जाए तथा परिवार के किसी सदस्य को साथ रखा जाए।

4. गिरफतार व्यक्ति के शरीर का निरीक्षण किया जाए और यदि कोई तकलीफ या चोट आदि हो तो उसका वर्णन लिखित हो।

5. किसी बीमार या घायल एवं वृद्धा को गिरफतार न किया जाए। यदि ऐसा करना अनिवार्य हो तो उसे आवश्यकतानुसार अस्पताल/चिकित्सालय में इलाज के लिए ले जाया जाए। ऐसे व्यक्ति से यदि अधिक पूछताछ करनी हो तो सीधे न्यायालय में पेश किया जाए रिमांड नहीं लिया जाए।

6. धारा 54 दंड प्रक्रिया संहिता की पालना में मुलजिम की प्रार्थना या मजिस्ट्रेट के आदेश पर व्यक्ति का चिकित्सा परीक्षण अनिवार्य है।

7. हवालात में भेजने से पहले हवालात का निरीक्षण किया जाए। उसमें बिजली के तार, रस्सी, लकड़ी, कील, ब्लेड या कोई घातक वस्तु न हो।

8. हवालात में मूल आवश्यकताएँ पूरी की जाएं तथा खाना, दवाई, कपड़ा, बिस्तर आदि दिए जाएं। मौसम के अनुसार कपड़े हों।

9. हथकड़ियों का उपयोग न्यायिक मजिस्ट्रेट की अनुमति एवं लिखित आदेशों पर ही किया जाए।

10. उच्चाधिकारियों को स्थानों का दौरा करते रहना चाहिए।

11. समय–समय पर जारी निर्देशों की सूचना पुलिस की हर इकाई तक पहुँचनी चाहिए।

इन सब बातों का उल्लेख या सिद्ध करने के लिए किया जा रहा है कि मानवाधिकारों का संरक्षण किया जाना अनिवार्य है। राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग उल्लंघन के मामलों को या तो किसी शिकायत मिलने पर अपने हाथ में लेते हैं या स्वयं उजागर होने पर स्वेच्छा से कार्यवाई करते हैं। किसी प्रकार की सीमा नहीं है। फिर भी राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग के प्रारंभिक मामले देखे जा सकते हैं। अक्टूबर, 1993 से मार्च 1994 तक केवल छह माह में लगभग 500 मामलों की शिकायतें मिलीं। मार्च 1994 से मार्च 1994 तक केवल छह माह में लगभग 500 मामलों की शिकायतें मिलीं। मार्च 1994 से मार्च 1995 तक यह संख्या लगभग 7000 हो गई। इनमें से लगभग 2500 मामले प्रारंभिक जांच के बाद खारिज कर दिए गए, 1600 मामलों पर निर्देश जारी किए गए तथा 300 मामलों पर सक्षम अधिकारों की रिपोर्ट मांगी गई। शेष मामलों पर कार्यवाई की जा रही थी। इस प्रकार पहले डेढ़ वर्ष की रिपोर्ट के आंकड़े दर्शाते हैं कि आयोग बड़ी मुस्तैदी से अपने दायित्व को निभा रहा है। आम समाचार–पत्र एवं अन्य संचार माध्यमों में इनका जिक्र आता रहता है। इनमें से कुछ अंग्राकित हैं :

1. आयोग को महर्षि बाल्मीकि नगर, लुधियाना में रहने वाली एक महिला से शिकायत मिली कि 2 जनवरी, 1994 को पंजाब पुलिस के एक कर्मचारी जगजीत सिंह ने उसका बलात्कार किया। जगजीत सिंह उसके परिवार में आता जाता रहता था तथा उसको यह कह कर घर ले गया कि वह अपने पति को समझाएगा कि झगड़ा न किया करे। वहाँ जगजीत सिंह ने उससे बलात्कार किया और धमकी दी कि यदि यह बात किसी को बताएगी तो वह उसकी तथा उसके पति की हत्या करा देगा। आठ–दस दिन बाद जगजीत सिंह पुनः उनके घर और रात को अपने घर पहुँचने को कहा और धमकी दी कि यदि वह नहीं आई तो परिणाम बुरे होंगे। उसने यह बात अपनी बहन को बताई। बहन ने उसके पति को बताई तथा उसके बाद मामला पुलिसा में दर्ज कराया गया। पुलिस ने अनसुना कर कोई भी कार्यवाही नहीं की। मामला जब आयोग तक पहुँचा तो आयोग ने पुलिस से सारी रिपोर्ट मांगी तथा उस महिला को न्याय दिलाया और जगजीत सिंह को सजा मिली।

2. इसी प्रकार 10 फरवरी, 1994 के समाचार पत्र में खबर छपी कि पुलिस के सिपाहियों ने एक व्यक्ति के शिश्न को काट दिया। खबर उजागर हुई। मानवाधिकार आयोग ने स्वयं इस खबर की छान–बीन की और राजस्थान सरकार से इस मामले की रिपोर्ट मंगवाई। उसने एक प्रारंभिक रिपोर्ट भेजी तथा यह भी बताया कि इस संबंध में एक सिपाही और एक सहायक उपनिरिक्षक को गिरफतार किया गया है। उनके साथ दो अन्य सिपाहियों को भी निलम्बित किया गया है। 19 फरवरी, 1994 को यह मामला केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो को सौंप दिया गया तथा व्यक्ति की बेहतर चिकित्सा के लिए उसे अस्पताल भर्ती कराया गया जहाँ प्लास्टिक सर्जरी भी करवाई गई।

3. दीना गाँव इलाहाबाद की एक हरिजन महिला को निर्वस्त्र कर गलियों में घुमाया गया। उसका अपराध यह था कि उसने कुर्मी जाति के लोगों के खेतों में चुराई थी और डांटने पर उसके पुत्र ने भूस्वामी को गोली मार दी। इस घटना के बाद कुर्मी युवकों ने मार्ग में आक्रमण किया। उस स्त्री को निर्वस्त्र कर गांव की गलियों में घूमाया तथा काफी मारा। पुलिस को रिपोर्ट की गई परन्तु पुलिस ने कोई कार्यवाई नहीं की। यह घटना समाचार पत्र में छपी और आयोग ने अपने हाथ में ले ली। उत्तर प्रदेश सरकार से रिपोर्ट मांगी गई तथा न्यायोचित कार्यवाई की गई।

4. 8 मार्च 1994 के समाचार पत्रों से एक मामला आयोग ने गौरतलब किया कि सरिता विहार, नई दिल्ली मे एक हरिजन लड़की निर्मला एक घर में नौकरानी थी। उस 13–वर्षीय लड़की को लोहे की छड़ों से दागा और पीटा गया। इस रिपोर्ट को समाचार पत्र में पढ़कर आयोग ने दिल्ली सरकार से रिपोर्ट मांगी तथा निर्मला पर अत्याचार करने वालों को भारी जुर्माना तथा सजा दी गई।

5. 15 फरवरी, 1994 को महाराष्ट्र में मानसिक रूप से विक्षिप्त महिलाओं के गर्भाशय निकालने के संबंध में समाचार प्रकाशित हुआ। यह आपरेशन महिलाओं के अभिभावकों की सहमति से किए गए। यह भी बताया गया कि महाराष्ट्र के मुख्यमंत्री ने हस्तक्षेप किया इस प्रकार के आपरेशनों पर रोक लगा दी गई है।
आयोग ने इस मामले पर विचार विमर्श किया और चिकित्सक आचार संहिता तथा अशक्य व्यक्तियो के अधिकारों के संबंध में गंभीर प्रश्न उठाए। इस प्रकार आयोग अमानवीय व्यवहार संबंधी मामलों पर गंभीरता से कार्यवाई करता है।

6. मानव अधिकार संरक्षण, अधिनियम 1993 की धारा 12(ख) के अधीन न्यायालय की कार्यवाईयों में हस्तक्षेप कर आयोग ने महिलाओं को क्रूर अमानवीय व अपमानजनक सजा के विरुद्ध कदम उठाया अमृतसर पुलिस कर्मियों द्वारा चार महिलाओं के माथे पर ''जेबकतरी'' गोदवाने से संबंधित 12 जनवरी, 1994 की प्रेस रिपोर्ट पर विचार किया गया। पंजाब सरकार, पुलिस अधीक्षक, अमृतसर व अन्य संबंधित अधिकारियों के निर्देश दिया गया कि वे गोदे गए अपमाजनक शब्दों को हटवाएं तथा उन महिलाओं की प्लास्टिक सर्जरी कराने की व्यवस्था करें और पर्याप्त मुआवजा दे। आयोग ने मानव अधिकार संरक्षण

अधिनियम की धारा 12(ख) के अधीन हस्तक्षेप किया। उच्च न्यायालय ने आयोग के अधिवक्ता श्री मोहिन्दरजीत सिंह सेठी की सुनवाई पर सुझाव स्वीकार किए और उक्त तीनों सुझावों पर अनुवर्ती कार्यवाई करने का निर्देश जारी किया।

7. इसी प्रकार 14 दिसम्बर 1993 को आयोग द्वारा भेजे गए परिपत्र के अनुसरण में नई दिल्ली के पुलिस उपयुक्त ने जुलाई, 1994 में दिल्ली पुलिस बल के सहायक उपनिरीक्षक द्वारा हिरासत में किए बए बलात्कार की सूचना दी थी पीड़ित महिला को एक अन्य सहायक उपनिरीक्षक द्वारा थाने के रोजनामचे मे पीड़ित महिला को थाने ले आने के बाद वहाँ कोई रिपोर्ट नहीं लिखी गई और न इस बात की परवाह की गई कि वह पीड़ित महिला सही सलामत अपने घर पहुंच गई है। उस महिला के साथ सहायक उपनिरीक्षक ने पहाड़गंज थाने के रिहायशी क्वार्टरों में अपने घर ले जा कर बलात्कार किया था। बलात्कारी सहायक उपनिरीक्षक को गिरफतार करके अदालत में उसके खिलाफ मुकदमा चलाया गया है। आयोग को इस बारे में शिकायत पीपुल्स यूनियर फार डेमोक्रेटिक राइटस (पीयूडीआर) दिल्ली ने दी थी। आयोग ने दिल्ली सरकार से तलब किया कि रात को थाने में महिला को क्यों रोका गया तथा उसे रोकने की पुष्टि क्यों नहीं की गई?

दिल्ली सरकार ने सूचित किया कि हौजखास और औखला थाने के डयूटी अफसरों से चूक हुई है कि उन्होंने न तो महिला की उपस्थिति थाने में दर्ज की और न उसके परिवारजनों का पता ठिकाना बताया। आयोग ने महिला उत्पीड़न के मामले के साथ–साथ पुलिस संगठनों, जेल या उनकी निगरानी में कार्यरत हस्पताल आदि सें संबंधित मामलों को गंभीरता से लिया और जहां मानवाधिकारों का हनन हुआ, वहीं निष्पक्ष कार्यवाई प्रारंभ कर दी है।

8. 1 नवम्बर, 1993 को जम्मू कश्मीर में बीज बेहरा के आसपास कार्यवाई करते हुए सुरक्षा बलों द्वारा गोली चलाए जाने से 60 व्यक्तियों की मुत्यु हो गई। आयोग ने अखबारों से इस खबर को देखा और रक्षा मंत्रालय और गृह मंत्रालय के साथ–साथ जम्मू–कश्मीर की सरकार से रिपोर्ट मांगी। रक्षा मंत्रालय ने स्पष्ट किया कि इस मामले में सेना शामिल थी। गृह मंत्रालय ने राज्य सरकार के आदेश से मजिस्ट्रेट द्वारा जांच कराई।

आयोग को रिपोर्ट भेजी गई तथा आयोग ने निम्नलिखित टिप्पणी/सिफारिश की:
क) सीमा सुरक्षा के 14 सदस्यों के विरुद्ध अनुशासनिक कार्यवाई की जाए और मजिस्ट्रेट की जांच के आधार पर मुकदमा चलाने की कार्यवाई शुरू की जाए।
ख) दुर्घटनाग्रस्त व्यक्तियों की स्थिति के अनुसार अंतरिम मुआवजे के भुगतान की सिफारिश की गई।
ग) सरकार उन परिस्थितियों व स्थितियों की पूर्ण समीक्षा करें जिसमें सीमा सुरक्षा बल की यूनिटों को तैनात किया गया और उनसे ऐसी स्थिति में सैनिक कार्यवाई करने की अपेक्षा की गई जहां केवल आम जनता ही इसमें शामिल थी। इन सिफारिशों को केन्द्र

सरकार को भेजा गया तथा इन्हें मान लिया गया।

9. नैनी सेन्ट्रल जेल, इलाहाबाद के कुछ कैदियों ने आयोग को शिकायत भेजी जिसमें यह आरोप लगाया है कि जेल प्राधिकारी उन पर अत्याचार कर रहे हैं। आरोप इस प्रकार है–

1. पर्याप्त भोजन न मिलना 2. साफ कपड़े न मिलना
3. बिना औचित्य के मारा पीटा जाता है
4. साप्तहिक छुट्टी व त्यौहारों के दिन काम करने पर विवश किया जाता है।
5. देर रात तक मजदूरी करवाई गई। 6. अश्लील गालियां दी जाती हैं।
7. नशीले पदार्थ बेचे जाते हैं 8. चिकित्सा सुविधाएं उपलब्ध नहीं।
9. जेल में भी निरीक्षण करने वाले अधिकारियों ने कैदियों से मुलाकात नहीं की।
10. उम्र कैद 14 वर्ष की होती है जबकि 30 वर्षों से कैदी जेल में हैं।

आयोग ने प्राप्त शिकायतों पर जांच कराई तथा उचित कार्यवाई करने के आदेश दिए।

इस प्रकार विभिन्न मामलों में आयोग के हस्तक्षेप से जांच की जाती है और यथोचित कार्यवाई किए जाने के निर्देश दिए जाते हैं। इसका दूसरा पक्ष यह है कि आयोग के वर्चस्व से अत्याचार करने वाला पक्ष भयीभीत होता है। आयोग समुचित निर्देश देकर की गई कार्यवाई की रिपोर्ट भी मांगता है। इस प्रकार आयोग सतक्रता से अपनी भूमि निभा रहा है। सन्तोषजनक उत्तर पर कार्यवाई तथा सन्तोषजनक आयोग के व्यापक कार्यक्षेत्र को देखते हुए इसकी लोकप्रियता दिनोदिन बढ़ती जा रही है तथा एक आम नागरिक की इस तक सहज पहुंच भी इसका महत्पवूर्ण पहलु है। दूसरी ओर आयोग स्वयं भी सक्रिय रहता है और इसकी कार्यवाई जांच किसी राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, सरकारी आदि दबावों से मुक्त होती है। स्वतंत्र रूप से गतिशील इस आयोग ने कुछ ही वर्षों में कई मामलों में संसार के समक्ष उदाहरण रखे हैं। आयोग मानवाधिकारा की संरक्षा का दायित्व बखूबी निभा रहा है और समाज का इस पर विश्वास उत्तरोत्तर दृढ़ होता जा रहा है।

सन्दर्भ : (यह रचनाकार की मौलिक रचना है।)

'नैषध' के आलोक में श्रीहर्ष का व्यक्तित्व

डॉ० मंजू कुमारी

अतिथि प्रवक्ता, संस्कृत विभाग, आर्य महिला पी.जी. कालेज, वाराणसी

संस्कृत साहित्याकाश के देदीप्यमान नक्षत्र श्रीहर्ष, महाकवियों की परम्परा में अत्यन्त गौरवपूर्ण पद को अलङ्कृत करते हैं। इनके द्वारा प्रणीत महाकाव्य 'नैषध ीयचरितम्' का संस्कृत महाकाव्यों की परम्परा में विशिष्ट स्थान है। 'बृहत्त्रयी' के अन्तर्गत परिगणित इस महाकाव्य में कवि की प्रतिभा के वैशिष्ट्य से आह्लादित प्राचीन विद्वानों ने इनकी काव्य–प्रतिभा के समक्ष भारवि और माघ की प्रतिभा को निस्तेज मानते हुए कहा है –

तावद् भा भारवेर्भाति यावन्माघस्य नोदयः।
उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः क्व च भारविः।।[1]

इस महाकाव्य को कवि ने महाभारत के 'नलोपाख्यानम्' से कथानक ग्रहण कर राजा नल के लोक–प्रसिद्ध जीवन–चरित के पूवार्ध–दमयन्ती–परिणय पर्यन्त कथा को 22 सर्गों वाले प्रकृत काव्य में उपनिबद्ध किया है। काव्य की सरस वर्णन–शैली में वर्णित कथा में कवि ने वेद–वेदाङ्ग–दर्शन–पुराणेतिहास तथा अन्य विविध शास्त्रों के ज्ञान–भण्डार का अतीव रमणीयता से कुशल–प्रयोग किया है। पुरुषार्थ चतुष्टय, तन्त्र सङ्गीत, गणित, आयुर्वेद, धनुर्वेद, सामुद्रिकशास्त्र, नाट्य, राजनीति, पाकशास्त्र आदि के ज्ञान से ओत–प्रोत यह महाकाव्य विविध विषयों के बृहत् कोष–स्वरूप बन गया है। अतः इसके विषय में यह आभाणक भी प्रसिद्ध है – ''नैषधं विद्वदौषध ाम्''

किसी कवि की कृति में समकालीन समाज का चित्र प्रतिबिम्बित होता है। इसलिए साहित्य को समाज का दर्पण भी कहा जाता है। इसी प्रकार कवि के काव्य में उसके अपने व्यक्तित्व के विभिन्न घटकों, स्वभाव, रुचि, धर्म के प्रति मान्यताएँ, कर्मविशेष में प्रवृत्ति–निवृत्ति आदि का प्रतिबिम्ब भी स्पष्टतया दृष्टिगोचर होता है। काव्य के पात्रों के चरित्र, घटना विशेष की कल्पना तथा अन्य वर्णनों से कवि की कृति में कवि के व्यक्तित्व की स्पष्ट झलक उसी प्रकार परिलक्षित होती है जैसे दर्पण में समक्ष विद्यमान वस्तु का प्रतिबिम्ब स्पष्टतया परिलक्षित होता है।

''वाग्जन्मवैफल्यमसह्यशल्यं गुणाद्भुते वस्तुनि मौनिता चेत्'' – कहकर गुणों से उत्कृष्ट वस्तु के विषय में मौन रहने को वाग्जन्म की विफलता का दुःसह शल्य तुल्य मानने वाले महाकवि श्रीहर्ष अपने अप्रतिम गुणों से सुसज्जित व्यक्तित्व के विषय में मूक

कैसे रह सकते थे। नैषधीयचरित के अन्तरंग प्रमाणों से श्रीहर्ष के व्यक्तित्व के विविध पक्षों का प्रतिबिम्ब दृष्टि–पटल पर अंकित होता है। जननी और जनक के प्रति कवि के मन में दृढ़ अनुराग था। अतएव अपने माता–पिता के प्रति भक्तिभाव से युक्त कवि ने अत्यन्त आत्मगौरव के साथ अपने को उनके पुत्र रूप में प्रस्तुत करके अपनी जितेन्द्रियता का वर्णन किया है–

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालंकारहीरः सुतम्

श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्।[2]

श्रीहर्ष को राजा जयतचन्द्र या जयचन्द्र का आश्रित कवि माना जाता है। स्वयं कवि ने नैषध में कहा है –

ताम्बूलद्वयमासन०च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात्[3]

राज–दरबार में राजसम्मान के साथ श्री हर्ष को राजकीय सुख तथा तज्जन्य भोग–विलास और विषयासक्ति के समस्त उपकरणों के सहजतया उपलब्ध होने पर भी वे विलास के वशीभूत न होकर जितेन्द्रिय बने रहे। श्रेय और प्रेय दोनों में से वरणीय श्रेय–मार्ग का अनुसरण विवेकयुक्त व्यक्ति ही करता है। प्रेय के बीच 'जितेन्द्रिय' रूप में कवि की उपस्थिति उनके विवेक को प्रकट करती है। कठोपनिषद् में कहा गया है –

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।

श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयोमन्दो योगक्षेमाद् वृणीते।। 1.2.2

उनका दृढ़ विश्वास था कि ज्ञान से निर्मलचित्त व्यक्ति को विषयों के प्रति आसक्ति नहीं हो सकती है – आह्वता हि विषयैकतानता ज्ञानधौतमनसं न लिम्पति[4]

कवि न केवल विवेक सम्पन्न ज्ञानी पुरुष थे अपितु उन्होंने स्वयं को सिद्धसमाधियोगी भी कहा है – य साक्षात्कुरुते समाधिषु परं ब्रह्म प्रमोदार्णवम्[5]

अर्थात् वे समाधि या ध्यान की अवस्था में परमानन्दस्वरूप तथा वाणी आदि से अगोचर ब्रह्म के साक्षात्कार का अनुभव कर चुके थे। नल द्वारा दमयन्ती को देखे जाने मात्र से हर्षाधिक्य के कारण ब्रह्मात्मैक्य–आनन्द की अनुभूति का वर्णन कवि द्वारा अनुभूत समाधि के आनन्द को परिपुष्ट करता है।

अपने इस महाकाव्य में कवि एक उच्च कोटि के दार्शनिक के रूप में भी उभरते हैं। स्वयं को तर्कशास्त्र में विशेष परिश्रम करने वाले अद्वितीय विद्वान् घोषित करते कवि ने कहा है– तर्केष्वप्यसमश्रमस्य दशमस्तस्य व्यरंसीत।[6]

कवि के द्वारा किए गए वर्णनों में उनके वेदान्त–ज्ञान तथा प्रेम की भी परिपुष्टि होती है। ''निमीलितादक्षियुगाच्च निद्रया–हृदोऽपि बाह्येन्द्रियमौनमुद्रितात्।''[7] में उस वेदान्तिक विचार का स्पष्ट दर्शन होता है जिसके अनुसार आत्मा जाग्रत अवस्था के समान अदृष्टवश सुख–दुख आदि का स्वप्नावस्था में भी विषय–भोग कर लेती है।

कवि की ईश्वर के प्रति आस्था थी। वे न केवल आस्तिक थे अपितु बहुदेववादी भी थे। क्योंकि प्रायः सभी देवताओं के प्रति उनके हृदय में सम्मान और श्रद्धा की भावना विद्यमान थी। तभी तो नैषध में कहा है –

कुलं च शीलं च बलं च यूनां जानासि नानाभुवनागतानाम्।

एषामतस्त्वं भव बावदूका मूकायितुं कः समयस्तवायम्।।[8]

इस पद्य में सरस्वती के प्रति तो ''श्रद्धालुसंकल्पित कल्पनायां कल्पद्रुमस्याथ रथाङ्गपाणेः।''[9] में भगवान् विष्णु के प्रति श्रद्धावनतता स्पष्ट दृष्टिगत होती है। सभी देवों के प्रति श्रद्धायुक्त तथा समन्वयवादी होने पर भी भगवान् शिव के प्रति उनका विशेष भक्ति–भाव स्पष्ट है।[10] कवि भाग्यवादी भी हैं। प्रथम सर्ग के – अयं दरिद्रो भवितेति वैधसीं लिपि ललाटेऽर्थिजनस्य जाग्रतीम्[11] पद्य में ब्रह्मा द्वारा लिखित लिपि के वर्णन से भाग्यवाद में उनका विश्वास स्पष्ट प्रतीत होता है। अपने शास्त्रों के प्रति कवि की पूर्ण आस्था थी। तभी तो शास्त्रों को तृतीय नेत्र के रूप में देखते हुए कवि ने ''बभार शास्त्राणि दृशं द्वयाधिकां''[12] कहकर अपनी आस्था की पराकाष्ठा का परिचय दिया है। शास्त्रों की भाँति देववाणी के प्रति भी उनके हृदय में सम्मान का सागर उमड़ता प्रतीत होता है।

अन्योन्यभाषानवबोधभीतेः संस्कृत्रिमाभिर्व्यवहारवत्सु।'[13] तथा

वाल्मीकिरश्लाघत तामनेकशाखत्रयीभूरुहराजिभाजा।

क्लेशं विना कण्ठपथेन यस्य दैवी दिवः प्राग्भुवमागमद्वाक्।।[14]

इन पद्यों में संस्कृतभाषा के प्रति उनका अनुराग स्पष्ट झलकता है। जननी–जनक शास्त्रों तथा देववाणी के प्रति श्रद्धा एवं भक्ति से युक्त कवि निज राष्ट्र के प्रति उदासीन कैसे रह सकता है। अपने राष्ट्र भारतवर्ष के प्रति भी कवि के मन में भक्ति की भावना प्रबल है। ''साधोरपि स्वः खलु गामिताघो गमी स तु स्वर्गमितः प्रयाणे।[15] पद्य में भारतभूमि में जन्म लेने के कारण पुण्यप्राप्ति के फलस्वरूप स्वर्ग गमन की बात कवि की देशभक्ति को और – ''वर्षेषु यद्भारतमार्यधुर्याःस्तुवन्ति गार्हस्थ्यमिवाश्रमेषु।''[16] में मन्वादि श्रेष्ठ मुनियों और वर्णाश्रम–धर्म तथा सनातन परम्परा में कवि की श्रद्धा प्रतीत होती है।

इसके अतिरिक्त कवि के नैषध काव्य में यत्र–तत्र उनके चरित्र की उदात्तता का दर्शन भी होता है। उपकारी के प्रति उनका हृदय कृतज्ञ था। उपकारी के प्रति यथासाध्य प्रत्युपकार शीघ्र करना चाहिए। वह प्रत्युपकार छोटा हो या बड़ा, विद्वान् इसका विचार नहीं करते –

अचिरादुपकर्तुराचरेदथ वात्मौपयिकीमुपक्रियाम्।

पृथुरित्थमथाणुरस्तु सा न विशेषे विदुषामिह ग्रहः।।[17]

श्री हर्ष कार्य द्वारा अपनी योग्यता बताना चाहते हैं न कि शब्दों द्वारा–ब्रुवते हि

फलेन साधवो न तु कण्ठेन निजोपयोगिताम्। (2.48)

इसी प्रकार मानव–जीवन के विविध पक्षों पर अपने मतों को भी कवि ने यथा स्थान अभिव्यक्त किया है, जिसमें जीवन की क्षणभंगुरता, गृहस्थाश्रम, प्रेम, दान, धर्म, भक्ति, यज्ञ सतीत्व आदि विषय सम्मिलित है। ऋजुमार्ग के पक्षधर होने पर कवि को कुटिल व्यक्ति के साथ सारल्य का व्यवहार अभिप्रेत नहीं–आर्जवं हि कुटिलेषु न नीतिः। (5.103)

धार्मिक अभिरुचि से युक्त कवि परिस्थिति के अनुसार कार्यप्रणाली में परिवर्तन के प्रति सकारात्मक सोच से सम्पन्न हैं। उन्होनें कहा है कि आपत्ति के समय धर्म के कठोर बन्धन में शैथिल्य किया जा सकता है। विपत्ति के काल में शास्त्र–सम्मत कार्य से रक्षा न कर पाने की स्थिति में वर्जित कर्म भी किए जा सकते हैं। जैसे वृष्टि–जल से फिसलन–युक्त राजमार्ग को छोड़कर विद्वान् पुरुष भी अमार्ग को अपनाते हैं –

शिरीषकोषादपि कोमलाया वेधा विधायांगमशेषमस्याः।

प्राप्तप्रकर्षः सुकुमारसर्गे समापयद्वाचि मृदुत्वमुद्राम्।। (7.47)

अपने गम्भीर पाण्डित्य से युक्त कवि को हास–परिहास अत्यन्त प्रिय है। अपने विनोदी स्वभाव के कारण कवि ने मीठी चुटकी लेते हुए वैयाकरणों की –

भक्तुं प्रभुर्व्याकरणस्य दर्पं पदप्रयोगाध्वनि लोक एषः।

शशो यदस्यास्ति शशी ततोऽयमेवं मृगोस्यास्ति मृगीति प्रोक्तः।। 22.82

वैशेषिक दर्शन की –

ध्वान्तस्य वामोरु विचारणायां वैशेषिकं चारुमतं मतं मे।

औलुकमाहुः खलु दर्शनं तत्क्षमं तमस्तत्वनिरूपणाय।। 22.35

में तथा न्याय–शास्त्र प्रणेता महर्षि गौतम की भरपूर खिल्ली उड़ाते हुए कहा है –

मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम्।

गोतमं तमवेक्ष्यैव यथा वित्थ तथैव सः।। 17.75

शास्त्रों के प्रति श्रद्धावनत तथा योग में समाधि का अनुभव प्राप्त या सिद्ध करने वाले कवि तन्त्र–मन्त्र के उपासक भी हैं –

''तच्चिन्तामणिमन्त्रचिन्तनफले श्रृंगारभङ्गया महा

काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गोऽयमादिर्गतः।। 1.145

इस पद्य में कवि ने चिन्तामणिमन्त्र के चिन्तन और जप तथा ध्यान के फलस्वरूप शृंगाररसप्रधान प्रकृत काव्य के प्रणयन हेतु कवित्व की प्राप्ति का उल्लेख किया है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि नैषध के आलोक में महाकवि श्रीहर्ष गौरवशाली माता–पिता के सुयोग्य पुत्र तथा विविध शास्त्रों के ज्ञान से सम्पन्न, सनातन धर्म के प्रति आस्थावान, उदात्त भावों से सम्पन्न एवं विनादी–प्रकृति के स्वामी थे। अपनी

विद्वता और काव्यशक्ति के प्रति स्वाभिमान से युक्त कवि जितेन्द्रिय और समाधि का अनुभव करने वाले योगी भी प्रतीत होते हैं। उनके मन में अपने राष्ट्र के प्रति भक्ति और देववाणी (संस्कृत) के प्रति श्रद्धा के भाव भरे हुए हैं। समयानुसार व्यवहार परिवर्तन के प्रति उनमें नम्यता और दूरदर्शिता भी दृष्टिगोचर होती है।

संदर्भ

1.	नैषधीयचरितम्	–	8.32
2.	''	–	1.145
3.	''	–	22.
4.	''	–	18.2
5.	''	–	1.
6.	''	–	10.138
7.	''	–	1.40
8.	''	–	10.71
9.	''	–	10.69
10.	''	–	14.88
11.	''	–	1.15
12.	''	–	1.6
13.	''	–	10.34
14.	''	–	10.57
15.	''	–	6.99
16.	''	–	6.97
17.	''	–	2.14

थारू जनजातीय समाज : एक नृजातीय पुरातात्विक अवलोकन

नरेश सिंह

असिस्टेंट प्रोफेसर, इतिहास विभाग, आर्य महिला पी0जी0 कालेज, चेतगंज वाराणसी

भारतीय सामाजिक व्यवस्था में जनजातियों का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। जनजातीय समूह देश के सबसे पिछड़े हुए वर्ग में रखे जा सकते हैं। विश्व में जनजातियों के वितरण की दृष्टि से भारतवर्ष में जनजातीय जनसंख्या किसी भी देश से अधिक है। विकास की दृष्टि से भारतीय जनजातियों को विभिन्न अवस्थाओं में रखा जा सकता है। अभी भी ये लोग सभ्य समाजों की तुलना में अत्यधिक पिछड़े हुए हैं। नृतत्वशास्त्रियों ने जनजातियों को अलग–अलग नामों से सम्बोधित किया है। रिजले, लेके, ग्रिगसन, सोबार्ट, टेलेण्ट्स, सेजनिक, मार्टिन तथा ए.वी. थक्कर ने उन्हें आदिवासी (एबारिजिंस) नाम से पुकारा है। हट्टन ने इन्हें आदिम जातियाँ (प्रिमिटव ट्राइब्स) नाम से सम्बोधित किया है। कुछ विद्वानो द्वारा इन्हें पर्वतीय जनजातियाँ (हिल ट्राइब्स) की संज्ञा दी गयी है। टेलेण्ट्स, सेजनिक तथा मार्टिन उन्हें सर्वजीववादी (एनिमिस्ट्स) कहते हैं। बेन्स ने उन्हें वन्य जाति (जंगल पीपुल, फॉरेस्ट ट्राइब्स अथवा फोक) नाम से सम्बोधित किया है प्रसिद समाजशास्त्री डॉ. घुरये ने उन्हें तथाकथित आदिवासी (सो काल्ड एबारिजिन्स) अथवा 'पिछड़े हुए हिन्दू' नाम दिया है तथा उन्होंने इनके लिए अनुसूचित जनजातियाँ (शिड्यूल्ड ट्राइब्स) नाम प्रस्तावित किया है, जो कि भारतीय संविधान के अनुच्छेद 342 के अन्तर्गत स्वीकारा गया है।

थारु एक विशिष्ट एवम् अनूठी जनजाति है इसके विषय में नृजातीय पुरातत्व के दृष्टिकोण से विस्तृत अध्ययन नहीं हुआ है। तराई क्षेत्र में रहने वाली जनजातियों में ये सबसे प्राचीन एवम् बड़ी जनजाति है, नृजातीय पुरातत्व के दृष्टिकोण से कोई विशेष कार्य नहीं किया गया है, जिसमें सामाजिक, आर्थिक एवम् सांस्कृतिक परिवर्तन हो रहे हैं।

आम धारणा रही है कि थारु शब्द की उत्पत्ति का सम्बन्ध राजस्थान के 'थार–मरुभूमि' से रहा है। मध्य काल में जब मुसलमानों ने चित्तौड़ पर आक्रमण किया तब राजपूत नारियों ने अपने विश्वस्त सेवकों के साथ हिमालय के जंगलों के तरफ भाग निकली। वर्षों बाद जब उनके पति उन्हें नहीं ढूँढ पाए तब उससे उत्पन्न संतान थारु कहलाए। विद्वानो ने इसका जिक्र करते हुए कहा है कि सम्भवतः राजवंश से जुडे होने की इसी अवधारणा के कारण थारु समुदाय में नारियों का प्रभुत्व ज्यादा देखने को मिलता है। थारु महिलाओं को 'रानी' माना जाता है और चौके में पुरुष का प्रवेश वर्जित है। सम्भवतः, यह स्थिति थारु नारियों के राजपूत शासन वंश से जुड़े होने का कारण है। परन्तु, बराल कहते हैं कि नारियों का यह प्रभुत्व अब थारु समाज में लुप्त सा हो गया है और मात्र राणा थारु में ही देखा जा सकता है। एक अध्ययन के अनुसार नैनीताल के तराई क्षेत्रों में बसे थारु समुदाय को राजस्थान के राणा राजपूतों का वंशज माना गया है।

थारु जीवन आज भी पूर्णतः जमीन–जल–जंगल के त्रिकोणात्मक अवलम्बन पर आश्रित है। इनके गृह–निर्माण के लिए लकड़ी, घासफूस, शिकार के लिए विभिन्न प्रकार के पशु–पक्षी, खाने के लिए विभिन्न प्रकार के फल–फूल–सब्जी तथा इलाज के लिए जड़ी–बूटी जंगल से ही प्राप्त होते हैं। इस प्रकार जमीन से अन्न, जल से मछली, जंगल से लकड़ी, फल एवं मॉस तथा इन तीनों पर आधारित अन्य सामग्रियाँ थारुओं को आवश्यकतानुसार परिश्रम करने से पर्याप्त मात्रा में प्राप्त हो जाती हैं।

सामान्यतः एक थारु ग्राम में 30–40 घर होते हैं। इनके घर फैले हुए तथा आकृति काफी बड़े होते हैं। प्रत्येक थारु के पास घर बनाने हेतु पर्याप्त जमीन होती है। साथ–साथ गृह–निर्माण की सामग्रियाँ भी प्रचुर माषा में उपलब्ध रहती हैं। अतः थारु अपना घर संकीर्ण तथा छोटा क्यों बनाएँ? करीब–करीब सभी थारुओं के घर इसी नक्शे के अनुरुप बने रहते हैं। थारु घर के पीछे स्थित जमीन पर कुआँ का निर्माण करते हैं। इससे घर में नमी नहीं लगती है। परन्तु, अब कहीं–कहीं आँगन में ही नल गाड़े जाने लगे हैं।

थारुओं के घर पंक्तियों में बने रहते हैं। घरों के बीच में चौड़ी सड़क रहती है और सड़क के दोनों तरफ पंक्तिबद्ध बने घरों के दरवाजे सड़क की ओर ही खुलते हैं। स्थान–स्थान पर चौक रहता है। गाँवों का निर्माण ऐसे सुनियोजित ढंग से किया जाता है कि किसी खतरे के समय जल्दी तथा आसानी से लोग एक जगह इकट्ठे हो सकें। किसी भी थारु ग्राम को देखने से ऐसा स्पष्ट झलकता है कि किसी व्यक्ति ने पहले नक्शा तैयार किया हो और फिर गाँव को बसाया हो। वास्तव में प्रत्येक थारु ग्राम तथा गृह–निर्माण शिल्प में पारंगत होता है। इनमें बढ़ई जाति नहीं होती है। ये सारा निर्माण कार्य स्वयं ही करते हैं।

थारु स्त्रियाँ घर को सुन्दर बनाने के लिए दीवारों पर विभिन्न प्रकार के चित्र गेरु तथा चूना या खली से बनाती हैं। वास्तव में, थारु घरों के मिट्टी, भूसा, गोबर मिश्रित लेप लगे दीवार थारु नारियों के कला–कौशल प्रशिक्षण तथा अभिव्यक्ति के लिए बिना मोल सहज तथा विशाल कैनवास का कार्य करते हैं।

थारुओं के घरेलू तथा रोजमर्रा की सामग्रियाँ काफी सीमित होती हैं। वे आज भी काफी हद तक प्रकृति के वैभवों पर ही अपना जीवनयापन के लिए आश्रित हैं। उनके घरेलू सामान प्रायः मिट्टी, कुछ कांसे के बर्तन, अनाज रखने की छोटी–बड़ी, कुठिया, मिट्टी की तिजोरी, आटा पीसने की चक्की, धान कूटने की ढेंकी तथा मूसल–ओखल,

मिट्टी के चूल्हे, हुक्का कुछ मूँज की रस्सी से बनी खाटें, लकड़ी को चौकी, चटाइयाँ, ताड़ तथा खजूर के पंखे, मूँज तथा बेंत की टोकरियां, खेती के औजार एवं शिकार करने और मछली पकड़ने की सामग्रियाँ होती हैं हिन्दुओं में प्रचलित प्रमुख त्योहारों होली, दीवाली के अलावा थारू समाज में चिराई व आषाढ़ माह का त्योहार (भूमि पूजन) प्रमुखता से मनाया जाता है, इसके अतिरिक्त महाराणा प्रताप का वंशज मानते हुए थारूओं द्वारा मई में राणा प्रताप जयन्ती का उत्सव मनाया जाता है। थारु स्वभावतः नाच–गान के प्रेमी होते हैं। अतः इनके घरेलू सामानों में मृदंग, ढोल, ढोलक, मानर, झाँझ, झील्ली, तबला हारमोनियम आदि वाद्य् यन्त्र भी शामिल होते हैं।

थारु जनजाति की महिलायें आभूषणों में सिर में माँग बिन्दी के रुप में पहनती है जिसे (घूँघट) कहा जाता है जो सोने या चाँदी का गोल आकृति का आभूषण होता है। नाक में पहनने के लिए सोने की नथुनी (नथनिया) जो गोल आकृति की होती हैं, कान में कुण्डल, बाली (कन्थुन) के रुप में पहनती हैं जो गोल या लम्बी आकृति में जिसमें मछली की आकृति या गोल आकृति में घण्टी की आकृति में बनी होती है। गले में पहनने के लिए चाँदी के या काँसे के सिक्के का हार या गोल हार पहनती हैं जिसके मध्य में चाँदी का सिक्का पीपल की पत्ती की आकृति में लगाया जाता है, जिसमें किसी फूल या पौधे की पंखुड़ियों की आकृति बनी होती है। इसे शँख व सीपियों की माला बनाकर भी पहनते हैं इसे हँसुली कहा जाता है।

भुजबन्द जिसे बाजूबन्द भी कहा जाता है ये चाँदी या काँसे की धातु का बना होता है इसे हाथ (बाजू) में पहना जाता है। हाथ की कलाई में चाँदी का कंगन (वनखड़ा) भी पहना जाता है। पैर में चाँदी या काँसे की धातु का कँगन (खडुआ) पहना जाता है। इन सभी में फूल पत्ती या किसी पक्षी की आकृति बनी होती है।

गले में पहनने के लिए ताबीज जो कि गोल आकृति या चौकोर आकृति की होती है। इसे बनाने के लिए ताँबे, काँसे या चाँदी की धातु का प्रयोग करते हैं। इसे सीपियों की माला से भी सजाया जाता हैं। ताबीज में साँप, काली, त्रिशूल, बाघ, हाथी की आकृति भी छपी होती है। इस ताबीज को अन्ध–विश्वास के रुप में भी देखा जा सकता है इनका मानना है कि ये ताबीज पहनने से भूत–प्रेत या बुरी आत्माएँ व्यक्ति को परेशान नहीं करती हैं।

थारु समाज में बाल विवाह का काफी प्रचलन रहा है, थारु जाति में प्रायः एक विवाह को ही मान्यता है। सभवतः ऐसी प्रथा थारु सामाज में नारी–वर्चस्व या समानता के कारण ही है। परन्तु कहीं–कहीं बहुविवाह जिसमें एक पति एक से अधिक पत्नियाँ रखता है का भी प्रचलन देखने को मिलता है।

विवाह के अन्य मुख्य प्रकार हैं सामान्य विवाह प्रेम–विवाह, घर बैठा–विवाह अनुपस्थिति–विवाह उद्वार–विवाह, विधवा विवाह आदि। ये विवाह प्रथाएँ अब लुप्त हो रही हैं, परन्तु थारु समाज में इनकी सामाजिक मान्यता रही है। थारु जनजाति में विवाह का

शुभमुहुर्त माघ और फाल्गुन का महीना ही माना जाता है।

थारुओं में मृत्यु संस्कार की कोई एक परम्परागत विधि का प्रचलन नही पाया जाता है। स्थान के अनुसार मृत्यु संस्कार अलग–अलग होता है। थारुओं में मृतक को प्रायः जला देने की ही प्रथा है। परन्तु कहीं–कहीं मुर्दे को गाड़ा भी जाता है। भारत के पश्चिमी चम्पारण जिला तथा नेपाल के पूर्वी क्षेत्र के थारु अपने मृतक को जला देते हैं। परन्तु नेपाल के पश्चिमांचल के थारु सामान्यतः मृतक को गाड़ देते है यहां पर मृत थारु पुरुषों को पेट के बल तथा नारी को पीठ के बल लिटाकर गाड़ने का चलन देखा जाता है। सामान्यतः ये पैर दक्षिण और सिर उत्तर दिशा की ओर रखते हैं। परिवारिक संरचना अन्य जनजातियों तथा जातियों की तरह थारु समाज में भी परिवार समाज की सबसे छोटी तथा महत्वपूर्ण इकाई है। थारु समाज में सम्मिलित (संयुक्त) परिवार की परम्परा काफी व्यापक स्तर पर प्रचलित है। कृषिप्रधान थारु समाज के परिवारिक समूह में संख्या पंचास से भी अधिक होती है और वे सभी प्रेमपूर्वक रहते हैं।

थारु समाज में मान्यता रही है कि उनकी पूर्वज मातायें राजस्थान की राजपुतानी थी तथा मुगलों के आतंक से बचने के क्रम में हिमालय के जंगल क्षेत्रों में शरण ली थीं।

थारु जनजाति के उपकरण में सब्जी काटने में प्रयोग की जाने वाली हँसिया जिसे ये प्राचीन समय से प्रयोग कर रहे हैं लेकिन वर्तमान समय में फसलों की कटाई के लिए (दराती) दाँतेदार हँसिया, जैसे उपकरण से कटाई की जाती है जिसमें छोटे–छोटे नुकीली धार बना दी जाती है।

हंसिया उपकरण के एक दूसरे प्रकार की हंसिया या खुकरी को आत्मरक्षा के लिए प्रयोग किया जाता है इससे ये लोग जानवरों को मारने में प्रयोग करते हैं।

हंसिया या कुल्हाड़ीनुमा उपकरण जिसे स्थानीय भाषा में फरसा कहा जाता है इसका उपयोग हल्की लकड़ी या गन्ने को काटने में प्रयोग किया जाता है यह उपकरण1/2 इंच या1 सेमी. पहली लोहे की चादर से बनाया जाता है

धान्य कोठार (कुठिया)–यह अनाज रखने का चौकोर सन्दूक नुमा बक्सा होता है जिसमें अनाज को रखा जाता है इसे मिट्टी और घास–पूस (भूसा) को मिलाकर अन्दर से खोखला बनाया जाता है इसमें अलग–अलग प्रकार के अनाज रखने के लिए अलग–अलग आकार को धान्य कोठार बनाये जाते हैं जिसमें धान गेहूँ रखने के लिए बड़े आकार के मंसूर, चना, सरसों रखने के लिए छोटे आकार की धान की कुठिया बनाई जाती है इनको बनाने के पश्चात् इसमें वे लोग किसी पशु–पक्षी या चक्र या फूल पत्ती की आकृति को बनाते हैं।

सम्भावनायें :

जैसा कि थारू समाज में यह मान्यता प्रचलित है कि उनका मूल उद्भव राजस्थान

के थार क्षेत्र से है तथा वे राणाओं के वंशज हैं इस मान्यता पर विभिन्न विद्वानो के द्वारा विचार दिया गया है। (एस0के0 श्रीवास्तव और प्रकाश चन्द्र दूबें)

इन विद्वानो में से अधिकांष ने इस मान्यता की पुष्टि भी की। प्रस्तुत अध्ययन में इस प्रश्न पर नृजातीय पुरातत्व के माध्यम से प्रकाश डालने की कोशिष की गई है।

प्रारम्भिक अध्ययन में थारू समाज के ग्राम नियोजन का राजस्थान की प्रारम्भिक संस्कृतियों के ग्राम नियोजन में काफी कुछ समानतायें प्रतीत होती हैं।

वर्तमान में थारू समाज में प्रचलित पात्र परम्पराओं तथा राजस्थान के क्षेत्र में प्रचलित पात्र परम्पराओं में भी अत्यधिक समानता प्रतीत होती है, उनकी आकार–प्रकार तथा उलंकरण विशेषताओं में भी समानता प्रतीत होती है।

हडप्पा संस्कृति से प्राप्त एक विशेष प्रकार के पात्र जिसमें महादेवन के मतानुसार संभवतः मादक पेय बनाया जाता रहा ही होगा, उसी प्रकार के वर्तन का प्रयोग आज भी थारू समाज में चावल से एक विशेष प्रकार के मादक पेय को वनाने में किया जाता है।

नृजातीय पुरातत्व के दृष्टिकोण से प्रस्तुत समस्या पर अभी और अवलोकन

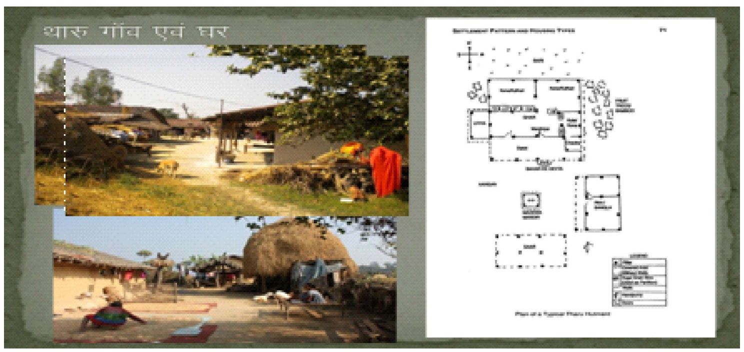

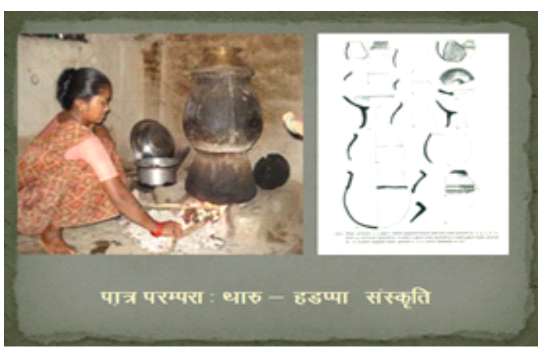

किये जाने की आवश्यकता है जो थारूओं की विशिष्ट संस्कृति व उनके मूल से संबंधित प्रश्नो के हल में सहायक होगी।

संदर्भित सूची –

1. चौबे गणेश– ''चम्पारण की एक रहस्यमयी जाति : थारू वार्षिकी अंक –6, वर्ष 1962, मोतीहारी, बिहार,

2. घूरये एस0 – दी सेडूल्ड ट्राइब्स, पोपुलर प्रकाशन बम्बई, 1995

3. मजूमदार डी0एन0 ''रेसेस एण्ड कल्चरस इन इंडिया'' लखनऊ 1944

4ण बैंजजवचंकीलंलं क्ण्च्ण् . भ्पेचवतल वॅिबपमदबमए चीपसवेवचील ́दक बनसजनतम पद प्दकपं बपअपसप्रंजपवदएए जीम कूंद वप्दकपंद बपअपसप्रंजपवद ;नच जव ब्ण् 600 ठण्ब्ण्द्ध

5ण ।ससबीपद ंत्लउवदक ́दक ठतपकहमज . जीम त्पेम वॅ ब्पअपसप्रंजपवद पद प्दकपं ́दक च्ंपेजंदय च्नइसपीमक इल जीम च्तमेॅलदकपबंजम वॅन्दपअमतेपजल वॅ ब्वउइतपकहम . 1982ए

6ण ॅण्ज्ञण्ॅतपअेंजंअं जीम जींतने ;।`जनकल पद बनसजनत क्लदंउपबेद्ध ज्ञंसं च्तं ज्ञेंद 2011

कमइ

1857 का विद्रोह : स्वरूप पर लगे प्रश्नचिह्न

पूनम
असिस्टेंट प्रोफेसर, इतिहास विभाग, आर्य महिला पी.जी.कालेज,
चेतगंज, वाराणसी

1857 के विद्रोह का स्वरूप निर्धारण आधुनिक भारत के इतिहास में आरंभ से ही एक विवादास्पद मुद्दा रहा है इसका प्रमुख कारण इस पर एक निष्पक्ष इतिहास लेखन का अभाव रहा है। 1857 के संग्राम पर लिखने वाले अधिकतर विद्वान किसी न किसी पूर्वाग्रह के शिकार रहे हैं, दूसरी तरफ इस विद्रोह से संबंधित बातों के अध्ययन के लिये उचित साक्ष्यों का अभाव रहा क्योंकि इन विद्रोहियों ने गुप्त संगठन के रूप में कार्य किया तथा पकड़े जाने के भय से महत्वपूर्ण कागजातों एवं दस्तावेजों को नष्ट कर दिया। यही कारण है कि इसके अध्ययन में स्त्रोत सामग्री के रूप में मुख्यतः सरकारी अभिलेखागार का ही प्रयोग किया जाता रहा है अतः इस विद्रोह के स्वरूप के बारे में कोई स्पष्ट विवरण नहीं मिलता, इस संदर्भ में जितने लेखक हैं लगभग उतने ही विचार हैं।

1857 के विद्रोह के स्वरूप निर्धारण में सिपाही विद्रोह से लेकर राष्ट्रीय आंदोलन तथा मुस्लिम षड्यंत्र से लेकर इस्लामिक जेहाद जैसे तत्वों को ढूंढ़ने का प्रयास किया गया किन्तु परीक्षण करने पर उपर्युक्त दृष्टिकोणों की सीमा स्पष्ट हो जाती है। ब्रिटिश कंपनी तथा उसके अधिकारी एवं के.मालेसन, ट्रेवेलियन, लारेंस तथा होम्ज जैसे ब्रिटिश इतिहासकारों ने जो साम्राज्य के प्राकृतिक पक्षपाती थे भारत में ब्रिटिश शासन पद्धति की कमजोरी को छिपाने के लिए इसे सिपाही विद्रोह करार देना चाहते थे किन्तु जैसा कि हम जानते हैं कि इस विद्रोह में सैनिकों के साथ–साथ बड़ी संख्या में गैर सैनिकों की भी भागीदारी रही साथ ही अवध क्षेत्र से आये हुये ये सैनिक एक दृष्टि से कृषक असंतोष को भी अभिव्यक्त करते थे वस्तुतः ये वर्दी में किसान थे। उसी प्रकार इसे मुस्लिम षड्यंत्र का भी परिणाम नहीं माना जा सकता क्योंकि इसमें बड़ी संख्या में हिन्दुओं की भागीदारी रही। लक्ष्मीबाई से लेकर नाना साहब तक जिन्होंने इस विद्रोह में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी, हिन्दू कुलीनों का ही प्रतिनिधित्व कर रहे थे वहीं दूसरी तरफ बहादुर शाह जफर को महज हिन्दुस्तान की एकता के प्रतीक के रूप में उपस्थित किया गया था, उसी प्रकार टी.आर. होम्ज जैसे ब्रिटिश इतिहासकार इसे सभ्यता व बर्बरता के बीच संघर्ष करार देकर इसे जातीय संघर्ष का रूप देने से भी नहीं हिचकते जिससे ब्रिटिश नस्लवादी दृष्टिकोण ही अभिव्यक्त होता है। यद्यपि यह सही है कि इस विद्रोह के मध्य कहीं–कहीं क्रूर कदम उठाये गये किन्तु संपूर्ण ब्रिटिश शासन के दरम्यान कई ऐसे अवसर आये जब ब्रिटिश सरकार ने क्रूरता के मामले में इन विद्रोहियों को कहीं पीछे छोड़ दिया अतः

सभ्यता बनाम बर्बरता की बात करना यहा बेमानी प्रतीत होता है। अब जहां तक इसे राष्ट्रीय आंदोलन मनाने का सवाल है तो यह सही है कि यह विद्रोह राष्ट्रीय आंदोलन की कई शर्तो को पूरा नहीं करता जैसे हमें इस बात की जानकारी नहीं मिलती है कि विद्रोहियों के पास कोई निश्चित कार्यक्रम अथवा एजेण्डा था या नहीं फिर विभिन्न क्षेत्रों में कार्य करने वाले नेताओं के बीच भी कोई उचित तालमेल नहीं था उदाहरणार्थ नाना साहब को यह सुझाव दिया गया कि वे दिल्ली की यात्रा न करें क्योंकि तब उनका व्यक्तित्व बहादुर शाह जफर के व्यक्तित्व के नीचे दब जाएगा। दो आधुनिक विशिष्ट भारतीय इतिहासकारों डॉ0 आर.सी. मजूमदार और डॉ0 एस.सेन के बीच विद्रोह को लेकर मतभेद हैं। मजूमदार ने इसे स्वतंत्रता संग्राम मानने से इंकार किया है क्योंकि विद्रोह ने भिन्न–भिन्न स्थानों पर भिन्न–भिन्न रूप धारण किया। डॉ0 सेन इस आधार पर इस विद्रोह को स्वतंत्रता संग्राम मानने के लिये तैयार होते हैं कि क्रांतिया प्रायः एक छोटे से वर्ग से प्रारंभ होती है जिसमें जनता का समर्थन होता भी है और नहीं भी। ऐसा नहीं है कि भारतीय ही इसे राष्ट्रीय विद्रोह मानते हैं, ब्रिटिश रूढ़िवादी दल के नेता बेंजामिन डिजरायली भी इस बात से सहमत हैं। लेकिन कुछ आधुनिक लेखकों ने निष्कर्ष निकाला है कि यह विद्रोह न तो पूर्णतः संगठित राष्ट्रीय आंदोलन था और न ही मात्र सैनिक विद्रोह यद्यपि कि यह सैनिक उपद्रव के रूप में आरंभ हुआ था, जिससे कुछ ऐसे असंतुष्ट नरेशों और जमींदारों ने लाभ उठाया, जिनके हित नयी राजनीतिक व्यवस्था से टकराते थे। इन नरेशों और जमींदारों ने अपने इलाके में इसे जनविद्रोह का स्वरूप प्रदान किया विशेषकर बिहार, अवध, रूहेलखंड में। विद्रोह का स्वरूप अखिल भारतीय कभी नहीं था बल्कि स्थानीय ही रहा। कुछ अंशों में यह विद्रोह सीमित और इसका संगठन कमजोर था। इसे संचालित करने के लिये राष्ट्रीय स्तर का कोई नेता भी नहीं था। सैनिक स्तर पर ब्रिटिश सरकार के विरूद्ध सभी सैनिकों ने विप्लव में भाग नहीं लिया। कई अवसरों पर देखा गया कि प्रमुख भारतीय नरेशों ने ही नहीं बल्कि भारतीय सैनिकों ने भी विद्रोह के दमन में अंग्रेजों का साथ दिया। ह्यूरोज ने कहा था कि विद्रोहियों में ''झांसी की रानी'' के अलावा कोई वीर नेता नहीं था। इसका अर्थ यह नहीं है कि उस समय भारत में ऐसे शासकों की कमी थी, इस तरह के विद्रोहों में कुछ शासकों ने भाग नहीं लिया जैसे सिंधिया, गायकवाड़, होल्कर आदि जबकि इस समय ये भारतीय शक्ति के केन्द्र थे। एक अवसर पर केनिंग ने कहा था 'यदि सिंधिया भी विद्रोह में सम्मिलित हो जाए तो मुझे कल ही बिस्तर गोल करना होगा।'

इन विभिन्न दृष्टिकोणों के संदर्भ में दिये गये तर्को एवं उनके खंडन के बाद भी इस महाविद्रोह की कई विशेषताएं हैं जो इसे पूर्व आंदोलनों तथा विद्रोहों से अलग एवं विशिष्ट बना देती है। प्रथम यह केवल एक क्षेत्र में सीमित न होकर एक ही साथ कई क्षेत्रों में फैल गया। दूसरे विभिन्न क्षेत्रों में कार्यरत नेताओं की गतिविधियां एक–दूसरे को प्रभावित करने लगी एक क्षेत्र के लोगों की अपील दूसरे क्षेत्र के लोगों की मानसिकता

को प्रभावित करने लगी साथ ही 1857 के महाविद्रोह को पूर्व तथा परवर्ती काल के ग्रामीण प्रतिरोधों से जोड़कर देखा जाना चाहिए फिर हमें यह भी ज्ञात है कि ये भारतीयों में संचित असंतोष की अभिव्यक्ति थी। उदाहरणार्थ 1852 में खानदेश का विद्रोह, 1855–56 में संथाल विद्रोह तथा 1859–60 में बंगाल के नील आंदोलनों को इस महाविद्रोह से जोड़कर देखा जाना चाहिए। इमें इस तथ्य को भी ध्यान में रखना होगा कि मध्य उन्नीसवी शताब्दी में भारतीय राष्ट्रीयता भ्रूणावस्था में थी ऐसी परिस्थिति में भी इसमें एक से अधिक वर्गो की भागीदारी रही जैसे सैनिक, किसान, कुलीन आदि। इसके अतिरिक्त इस विदोह में शामिल होने वाले लोग महज अपने कष्टों के निवारण के लिये संघर्ष नहीं कर रहे थे वरन वे अपनी दीन और धर्म की रक्षा के लिये संघर्ष कर रहे थे, अपने खोये हुये पैतृक अधिकारों को दुबारा प्राप्त करने के लिये प्रयासरत थे। दिल्ली का बादशाह इस पुरानी व्यवस्था का अधिकारिक प्रतिनिधि था। इस समय सामंतों ने देश की सेवा की और कई जगहों पर लोगों ने अपने बेदखल नेताओं की भावनाओं को महसूस किया चूंकि भारतीय राष्ट्र की अवधारणा अभी भी गर्भ में ही थी, पंजाबी के लिए शेष हिन्दुस्तानी अभी भी अजनबी था बहुत कम बंगाली यह समझते थे कि वे भी उसी राष्ट्र के निवासी हैं जिसके की मराठा, मध्य भारत और राजपूताना की जनता दक्षिण भारत के लोगों से कोई रिश्ता नहीं मानती थी। साझा दुश्मन होने के कारण ही एकता की एक अस्पष्ट सी भावना थी। जातिगत, भाषागत, धामिक असमानताओं के बावजूद अंग्रेजों का साझा विरोध भारतीय जनता की एकता का आधार था। राष्ट्रवाद की अनुपस्थिति में धर्म ने ही लोगों को एक साथ बांधने का काम किया। कुल मिलाकर यदि यह भारत का प्रथम स्वाधीनता संग्राम और आधुनिक राष्ट्रवाद नहीं तो आरंभिक राष्ट्रवाद की अभिव्यक्ति बनकर अवश्य उभरता है जो आगे चलकर विभिनन विचारों, घटनाओं के साथ क्रिया प्रतिक्रिया में परिणाम स्वरूप आधुनिक राष्ट्रवाद का रूप लेता है।

संदर्भ ग्रन्थ

विपिन चन्द्रा	–	भारत का स्वतंत्रता संघर्ष
सुमित सरकार	–	आधुनिक भारत
दत्त, मजूमदार, राय चौधरी	–	भारत का वृहद इतिहास भाग–3
एल.पी. शर्मा	–	आधुनिक भारत
बी.एल. ग्रोवर	–	आधुनिक भारत का इतिहास

बंगाल एवं बिहार के अभिलेखों में वर्णित अर्थव्यवस्था का अवलोकन (600–1200ई•)

चन्द्रशेखर सिंह

प्राचीन इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, इलाहबाद वि• वि•, इलाहबाद

बंगाल एवं बिहार के तत्कालीन अभिलेखों (पाल और सेन) (600–1200ई•)से आर्थिक जीवन के बारें में यद्यपि कम जानकारी मिलती है लेकिन जो सूचनाएँ मिलती है वह इस बात का प्रमाण है कि इनका राज्य धन–धान्य से परिपूर्ण था। पाल और सेन शासकों के ताम्रपत्रों में अनेक प्रकार के करों–भाग, भोग, हिरण्य आदि का मिलना इस बात की ओर संकेत करता है कि इनके राज्य की आर्थिक व्यवस्था सुदृढ़ थी। पाल ताम्रपत्रों एवं उनके समकालीन सेन, राष्ट्रकूट, चन्देल आदि राजवंशों के अभिलेखों ताम्रपत्रों तथा साहित्यिक स्रोतों के आधार पर बंगाल और बिहार के पाल और सेन राज की आर्थिक स्थिति का आकलन कर सकते है।

प्रारम्भकाल से ही बंगाल और बिहार कृषि सम्पन्न क्षेत्र थे लोगों द्वारा जमीन की जुताई की जाती थी और अधिकांश लोगों की आय का मुख्य साधन कृषि थी। पाल तथा सेन कालीन ताम्रपात्रों में धान, गन्ना, कपास, सरसों, पान तथा विभिन्न प्रकार के फल जैसे–नारियल, सुपारी, आम, केला, कटहल, नींबू इत्यादि मध्ययुगीन भारत में बहुत लोकप्रिय थे। एक चंदेल अभिलेख (राय बहादुर हीरालाल, महोबा प्लेट आफ मर्दिदेव, एपी.ई., खण्ड 16, पृ0 13) में गन्ना का उल्लेख आया है यह अनुमान लगाया जा सकता है कि प्राचीनकाल में राजा राज्य की सम्पूर्ण भूमि का स्वामी होता था और कृषक को भूमि जोतने के बदले में राजा को कुछ निर्धारित कर देने पड़ते थे। राजा ब्राह्मणों के पोषण हेतु एवं मंदिर निर्माण हेतु भूमि का दान दिया करता था।पाल तथा सेन राजा कुछ विशेषाधिकारों के साथ भूमिदान करते थे इन विशेषाधिकारों का उपयोग दानग्राही स्वयं करता था। जिसका उल्लेख सभी दानपत्रों में लगभग एक समान मिलता है और ये अधिकार पत्र इस प्रकार लिखे जाते थे।माप–तौल का मूल्य बंगाल और बिहार से प्राप्त गुप्तकालीन ताम्रपत्र में भूमि माप हेतु 'पाटक–, कूल्यवाप, द्रोणवाप और आदवाप शब्द प्रयुक्त हुए हैं।महिपाल प्रथम के बेलवा ताम्रपत्र में भूमि माप का मानक जिसके अनुसार ओसीना, कैवर्तवृत्ति का क्षेत्रफल 210 बतलाया गया है। इस संदर्भ में इस काल का ''फरीदपुर ताम्रपत्र का उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा जिसमें एक कूल्यवाप भूमि की कीमत 4 दीनार (सोने का सिक्का) थी। उक्त अभिलेखों से ज्ञात होता है कि बंगाल में गुप्तकालीन सोने और चाँदी के सिक्के क्रमशः दीनार और रूपक कहे जाते थे और 16 चाँदी के सिक्के एक दीनार के बराबर होते थे'' फरीदपुर ताम्रपत्र से ही ज्ञात होंता है

कि उत्तरी बंगाल की एक कूल्यवाप परती भूमि 2 या 3 दीनार में बेची गयी थी। इसका यह अर्थ निकाला जा सकता है कि भूमि की कीमतें साधारण जन के लिए खरीदकर फिर खेती करने के लिए बहुत अधिक होती थी। यद्यपि दान की गयी भूमि करमुक्त होती थी और बची हुई भूमि राजा को कर देय होती थी। हमें यह भी विवरण मिलता है कि धार्मिक उद्देश्यों के लिए भूमिदान का इच्छुक व्यक्ति भूमि हेतु पर्याप्त धनराशि राजा के यहाँ जमा किया करता था और सनद (अधिकारपत्र) बनवाता था। भूमिदान से प्राप्त धार्मिक पुण्य आम का 1/6वाँ हिस्सा राजा शुल्क के रूप में लेता था तथा शेष भाग दाता के हिस्से में जाता था।

देश के अन्य भागों की तरह बंगाल और बिहार में भी सोने और चाँदी के सिक्के बड़ी मात्रा में मिलते है। पूर्वी भारत के स्थानीय व्यापारियों ने अनाधिकारिक रूप से ढेर सारे सोने के जाली सिक्के बनवायें और प्रचलित करवाये जो कि जेसोर, फरीदपुर, बागोरा, ढाका, कोमिला, त्रिपुरा और आसाम में पाये गये है।[12] ताँबे के तीन सिक्के पहाड़पुर से पाये गये है जिसके एक तरफ बैल का तथा दूसरे तरफ तीन मछलियों का अंकन है विद्वानों ने इन्हें प्रारम्भिक पाल युग से सम्बन्धित बतलाया है।[13] कुछ ताँबे एवं चाँदी के सिक्के ऐसे पाये गयेहै जिन पर ''श्री विग्रह'' लिखा हुआ है। जिसके बारें में विद्वानों ने यह सुझाव दिया कि ये सिक्के पालवंश के विग्रहपाल द्वारा जारी किये गये थे। पाल काल में कपर्दक, कार्षापण (सिक्के)प्रचलित थे जिनकी पुष्टि गोविन्दपाल के सातवें वर्ष के गया अभिलेख से होती है इसमें यह बतलाया गया है कि 4 कपर्दक = 1 गण्डा, 20 गण्डा = 1 पण'', 16 पण = 1 कहार या कार्षापण तथा 1280 कपर्दक = 1 कार्षापण[16] होता था। यह उल्लेख इस बात की तरफ संकेत करता है कि उस बाल में सिक्के भारी मात्रा में ढाले जाते थे। पाल अभिलेखों केसमकालिक सेन अभिलेखों में पुराण और कपर्दक पुराण का उल्लेख सिक्कों के रूप में हुआ है। जिसका उल्लेख ज0न0एस0आई0 भाग 7, पृ0 83 में किया गया है। मिनहाजुद्दीन के विवरणों से हमें यह पता चलता है कि लक्ष्मणसेन के समय में सामान्यतः लोग चाल– चलन (रोजमर्रा) के क्रय–विक्रय में सिक्कों की जगह कौढ़ियों का प्रयोग करते थे। अरब यात्री सुलेमान जो नवीं शताब्दी में भारत आया था वह भी बताता है कि पूर्वी भारत के पालराज्य में व्यापार में कौढ़ियों का बड़ी मात्रा में प्रयोग किया जाता था। बंगाल एवं बिहार के तत्कालीन अभिलेखों से यह जानकारी प्राप्त होती है कि पाल और सेन राजवंष की अर्थव्यबस्था धन–धान्य से परिपूर्ण थी।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. एपी.ई., खण्ड–4, पृ0 245–46।
2. मजूमदार आर.सी., बंगला देशवर इतिवासा, पृष्ठ 196
3. एपी.ई., खण्ड–42, पृ0 6–29

4. मजूमदार आर.सी., बंगला देशवर इतिवासा, पृ0 196।
5. इण्डियन एन्टिक्वेरी, नारायणपाल का भागलपुर ताम्रपत्र, ग्ट
6. सरकार, डी0सी0, सांस्कृतिक इतिवासर, प्रसंग, खण्ड–1, पृ0 126
7. सरकार, डी0सी0, सांस्कृतिक इतिवासर, प्रसंग, खण्ड–1, पृष्ठ 127–130
8. सरकार, डी0सी0, सांस्कृतिक इतिवासर, प्रसंग, खण्ड–1, पृष्ठ 132
9. एपी. ई., कलकत्ता, खण्ड–ग्ग्प, पृ0 100
10. एपी. ई., कलकत्ता, खण्ड–ग्ग्प, पृ0 400
11. सरकार, डी0सी0, सांस्कृतिक इतिवासर, प्रसंग, खण्ड–1, पृ0 127
12. सरकार, डी0सी0, सांस्कृतिक इतिवासर, प्रसंग, खण्ड–1, पृ0 146
13. मजूमदार आर.सी., बंगला देशवर इतिवासा, पृ0 200।
14. एपी.ई., खण्ड–35, पृ0 233–37
15. एपी.ई., खण्ड–35, पृ0 233–37
16. सरकार, डी0सी0, सांस्कृतिक इतिवासर, प्रसंग, खण्ड–1, पृ0 150
17. इण्डियन एन्टिक्वेरी, खण्ड XLVII पृष्ठ 11

हिन्दी साहित्य के पक्षधर पं० विद्यानिवास मिश्र

डॉ० सुरेन्द्र पाण्डेय

सहायक अध्यापक, हिन्दी, जनता आदर्श इण्टर कालेज, सिद्धार्थ नगर (उ०प्र०)।

पद्मभूषण आचार्य विद्यानिवास मिश्र हिन्दी, संस्कृत और अंग्रेजी भाषा साहित्य के साथ लोक भाषा एवं साहित्य के तपस्वी थे जिन्होंने जनपदीय भाषाओं के विकास के लिए आजन्म सेवाएँ की और उसे स्थान दिलाने के लिए महत्त्वपूर्ण योगदान दिया तथा 'महात्मा गाँधी अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय वर्धा से 'हिन्दी की जनपदीय कविता' नामक ग्रंथ का भी प्रकाशन किया। उनका इस संदर्भ में मानना था कि जनपदीय भाषाओं का विकास होना चाहिए और इन्हें आदर भी मिलना चाहिए, इसलिए नहीं कि जनपदीय भाषा को अलग–अलग हिन्दी के ताजगी, हिन्दी की समृद्धि जनपदीय भाषाओं से निरन्तर रस ग्रहण करने से हुई है और आगे भी हो सकती है।

डॉ० विद्यानिवास मिश्र जी इस चिंताधारा से अवश्य दुःखी थे कि जिस जनपदीय भाषाओं के सम्बर्द्धन एवं उन्नयन में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, स्व० बनारसीदास चतुर्वेदी, स्व० वासुदेवशरण अग्रवाल, स्व० वासुदेवशरण अग्रवाल, स्व० राहुल जी, स्व० राम नरेश त्रिपाठी, डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय जैसे मनीषियों ने अप्रतिम सेवा की और उसके पल्लवनकाल में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने खड़ीबोली के रूप को ग्रहणकर संस्कृतनिष्ठ टकसाली रूप में हिन्दी को खड़ा कर दिया, जिसके लचीलेपन को तत्युगीन पं० माधव प्रसाद मिश्र, बाबू बालमुकुन्द गुप्त, पण्डित बालकृष्ण भट्ट, प० प्रतापनारायण मिश्र आदि हिन्दी पुरोधाओं ने सँवारा था।

जिस तरह भारतीय संस्कृति में विविधता है और इस विविधता में भी एकरूपता है, निःसंदेह अनेकता में एकता भारत की विशिष्टता है इसी भाँति भारत की हिन्दी भी अनेक रूपों में विस्तीर्ण है जिसके उपबोलियों एवं अनेक रूपों के कारण हिन्दी में एकता दिखाई पड़ती है। इसलिए जहाँ विविधता में एकता है, वहीं भाषा में भी एकता है। इस संदर्भ में पं० मिश्र जी ने सत्य ही लिखा है – ''हिन्दी साहित्य का इतिहास खड़ीबोली का इतिहास नहीं है। हिन्दी साहित्य का इतिहास ब्रज, अवधी, भोजपुरी, राजस्थानी, मैथिली इन सभी भाषाओं में जो साहित्य रचा गया, सार्वदेशिक भाव से रचा गया, वह है। उस समय ब्रजभाषा सार्वदेशिक भाषा थी। ब्रजभाषा में कविता करने वाले गुजरात में थे, केरल में थे। गुजरात में ब्रजभाषा की पाठशाला थी, जो स्वाधीन भारत में समाप्त हुई। इन सभी उपादानों को लेकर हिन्दी इतनी बड़ी भाषा है, उसमें इतना बड़ा भाव है, इतना बड़प्पन है। वह छोटे से छोटे को अपना सकती है और इसलिए वह कोटि–कोटि कण्ठों में बसी हुई है।''[1] आचार्य मिश्र जी ने भाषा के संदर्भ में तत्कालीन तीन ऐतिहासिक विस्मरणों की पुनरावृत्ति करके भाषा की ओर हमारा ध्यानाकर्षण करते हैं क्योंकि जब भारतीय संविधान का निर्माण कार्य चल रहा था तो उस समय संविधान का हिन्दी प्रारूप डॉ० रघुवीर तैयार कर रहे थे जिस प्रारूप को डॉ० पुरुषोत्तमदास टंडन ले आये थे। ''वास्तव में जनभाषाओं का आंदोलन भी जरुरी था। उसका आगे न चलना ऐतिहासिक भूल हुई है। एक भूल थी जो हमने एक अतिरिक्त निष्ठा के आवेग में भाषा के प्रश्न पर पं० जवाहरलाल नेहरू की बात नहीं मानकर की। वे आग्रही व्यक्ति थे। यदि उनकी बात मान लेते, हिन्दुस्तानी को इस देश की भाषा के रूप में स्वीकार करते और आचार्य नरेन्द्रदेव के सुझाव के अनुसार एक लिपि रखते, तो अपने आप एक भाषा ढलती चली जाती और शायद सन् 1950 से वही भाषा सारे देश की भाषा होती।''[2]

हिन्दी भाषा के संवैधानिकीकरण एवं समस्या के लिए दूसरी ऐतिहासिक तथ्य को इंगित करते हुए पं० विद्यानिवास मिश्र ने सत्य का ही उद्घाटन किया है – ''पंजाब में एक आग्रह के कारण हमने पंजाबी को अपनी भाषा के रूप में नहीं लिखाया, हिन्दी को अपनी भाषा के रूप में लिखाया, जबकि शत–प्रतिशत पंजाबी बोलते थे, लिखते थे– कुछ गुरुमुखी में, कुछ देवनागरी में। लेकिन लिपि के आग्रह के कारण हमने हिन्दी का आग्रह किया और पंजाब दूसरी बार बँटा।''[3]

वे भारत की सांस्कृतिक एकता एवं जनमानस को एकसूत्र में बाँधने की समर्थ भाषा को हिन्दी ही मानते थे। हिन्दी की उपेक्षा उन्हें असहय थी उन्हीं के शब्दों के आलोक में हिन्दी भाषा का प्रेम एवं समर्पण दृष्टव्य है – ''मेरे संस्कार कुछ ऐसे रहे कि हिन्दी की उपेक्षा मुझे कभी सहय नहीं हुई। इसलिए मेरी प्रतिक्रियाएँ तीखी ही रही हैं। आज उन्हें संकलित करने का कारण यह है कि हिन्दी के कहे जाने वाले हम लोग क्षेत्र, जाति और वाद के पार जाकर हिन्दी के बारे में सोचें और हिन्दी को स्वरूप–विमर्श का प्रमुख घटक बनाएँ। हम इस प्रकार का विमर्श करेंगे तो हिन्दी को लाचार नहीं समझेंगे और इस राजनीति, विशेषतः सत्ता की राजनीति के हाथों में जिरह के लिए छोड़ नहीं देंगे। हिन्दी का वर्तमान गौरवपूर्ण है। उसकी भूमिका आज भी सामान्यजन को जोड़ने में सभी भाषाओं की अपेक्षा अधिक कारगर है।''[4]

आचार्य विद्यानिवास मिश्र की पारिवारिक पृष्ठभूमि शास्त्रीय और सांस्कृतिक दृष्टि से संस्कृतमय था। परन्तु उनका चिन्तन और लेखन हिन्दी के प्रति अधिक समर्पित था। यह वही है जिसके लिये उन्होंने हिन्दी जिसे देश की राष्ट्रभाषा के सिंहासन पर बैठाने का संघर्ष किया। ऐसी भाषा और राष्ट्रभाषा की सात्विक संकल्पना एवं सांस्कृतिक व्याख्या को पण्डित जी ने 'राष्ट्रभाषा की समस्या' नामक आलेख में अनुपम ढंग से व्याख्यापित किया है – ''राष्ट्रभाषा की प्रतिष्ठा राष्ट्रीयमूल्य के रूप में होती है। अपनी भाषा के प्रति

निष्ठा राष्ट्रभाषा के प्रति दी गयी निष्ठा से अद्भूत होती है। दूसरे शब्दों में, भाषा राष्ट्रभाषा भी उतनी नहीं, वह राष्ट्रभाषा बनती है अपने बोलने वालों की निष्ठा के बल पर। जिस भाषा पर समस्त राष्ट्र गर्व करता है, जिस भाषा की प्रतिष्ठा को प्रत्येक राष्ट्रभाषी राष्ट्र की प्रतिष्ठा का पर्याय मानता है, जिस भाषा के मूल्य को अपने मानवीय मूल्यों में सर्वप्रथम स्थान देता है, वही भाषा राष्ट्रभााषा होती है। भारतवर्ष में राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी की प्रतिष्ठा साधारण जन के उत्थान के लिए उठे संतों ने दी – नामदेव, कबीर, नानक तुलसी, जायसी, सूर जैसे कवियों ने हिन्दी को भक्ति की सुरसरि से अभिन्न माना। उस युग में छोटे–से–छोटे आदमी में भगवान को देखना ही सबसे बड़ा अमानवीय मूल्य था। उस मूल्य का पर्याय बनी हिन्दी। शास्त्रीय चिंतन की भाषा के रूप में संस्कृत बनी रही, पर शुष्क शास्त्रीय चिंतन, जो जीवन से निरपेक्ष हो, मनुष्य की स्वाधीनता और मनुष्य की क्षमता का आवाहन न कर सकता हो, मध्ययुग में द्वितीय श्रेणी का मूल्य था। उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध से बीसवीं शती के पूर्वार्द्ध तक पूरा राष्ट्र जिस मूल्य की साधना करता रहा, वह था – स्वातंत्र्य। इस स्वातंत्र्य की भी संवाहिका बनी हिन्दी।''[5]

राष्ट्रभाषा हिन्दी की निर्मिति की ओर संकेत करते हुए आगे पुनः लिखा गया है – ''हिन्दी राष्ट्रभाषा किसी कानून से, किसी बहुमत से या किसी अनुचित दबाव से नहीं, बल्कि स्वाधीनता के यज्ञ में आहुति देने वाले प्रत्येक यजमान तथा उसके ऋत्विजों की श्रद्धा से और स्वाधीनता की आवश्यकता बनी। हिन्दी को राष्ट्रभाषा भूगोल ने नहीं, इतिहास ने बनाया। वह इतिहास हमसे काट दिया जाये तो हिन्दुस्तान नहीं रहेगा। हिन्दी को राष्ट्रभाषा नेताओं ने नहीं, नेताओं को नेता बनाने वाली उस भारतीय जनता ने बनाया जो संतों के सत्य की भाँति दूब बनकर बिछी रही, जिसे कुचलकर भी कुचला न जा सका, जिसे कोई भी आततायी उन्मूलित न कर सका। उसके खेतिहर जनता ने अपढ़ पर भीतर से संस्कृत जनता ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाया।''6

पं० मिश्र ने इन तात्कालिक परिवेशों एवं कारणों के अतिरिक्त उन सभी जनता के जननायकों की अप्रतिम भूमिका को भी मानते हैं जो अहिन्दीभाषी क्षेत्र के दूरदर्शी थे, इन्हीं के कारण हिन्दी भाषा के आन्दोलन का राष्ट्रीय स्वरूप स्थिर हो सका था परन्तु इसी के साथ अपना क्षोभ उन बुद्धिजीवियों के प्रति प्रकट किया है, जिनमें न तो सांस्कृतिक मूल्यबोध था और न ही राष्ट्रीय–मूल्यबोध की समझ थी। इनमें भाषा का संस्कार भी नहीं था और न इनमें भाषा की भावनात्मक एकता थी। यही कारण था कि राष्ट्रबोध, मूल्यबोध के साथ भाषा–संस्कार और भाषा की भावना का अभाव राष्ट्रभाषा की समस्या हमारे सामने दुर्ग के समान खड़ी है। पण्डित जी अपने व्याख्यानों में राष्ट्रभाषा की समस्या के समाधान को गौण मानकर निष्ठा और दृढ़संकल्प के साथ नहीं लगेंगे तब तक समस्याएँ बनी रहेंगी। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण उनके जीवन से सम्बन्धित है, भारतीय संविधान के प्रारूप का अनुवाद एक सप्ताह के भीतर करके राहुल जी एवं पण्डित जी द्वारा दिया जाना है।

पं० मिश्र जी में हिन्दी भाषा के प्रति आत्मविश्वास था, उसके प्रति उनकी अनन्य सोच एवं निष्ठा थी। हिन्दी के लिये उन्होंने जीवनभर तपस्या की और हिन्दी में हिन्दी के लिए जीया। उनकी मान्यता थी – ''हिन्दी प्रभुत्व की भाषा नहीं है, न होनी चाहिए। हिन्दी प्यार और विश्वास की भाषा रही है और द्वेष का ककहरा भी नहीं जानती। वह कुछ नहीं रहेगी यह कबूल है, पर वह अधिपति नहीं होना चाहेगी। जितना ही उसे उपेक्षा के गर्त में ढकेला जायेगा। उतना ही उसके भीतर दुर्धर्ष अस्तित्व जगेगा। वह अस्तित्व ही उसका भरोसा है और उसका दूसरा भरोसा है अंग्रेजी माध्यम का कुकुरमुत्ता, स्कूल जहाँ पर अंग्रेजी इतनी खराब पढ़ाई जा रही है, जहाँ पढ़ाने के नाम पर बच्चों की पीठ पर ऐसे होमवर्क का बोझ लादा जा रहा है कि उसके अभिभावकों द्वारा ही हल्का किया जाता है।''[6]

उन्हें इस बात की बराबर चिंता लगी रही थी कि हिन्दी भाषा को राष्ट्रभाषा न बनाने के लिये राजनीतिक पार्टियों द्वारा खूब विरोध हुआ किन्तु अभी तक हिन्दी अपने बलबूते शासन– सत्ता संविधान से स्थापित नहीं हो सकी थी कि हिन्दी भाषी क्षेत्रों द्वारा उसकी बोलियों को अपनी मातृभाषा को हिन्दी के बराबर मान्यता एवं स्थापना की माँग उठने लगी। इस प्रकार से हिन्दी भाषी जनता द्वारा उसकी बोलियों की स्वायत्तता एवं बराबरी की माँग अप्रासंगिक दिखाई देता है क्योंकि हिन्दी के विभिन्न रूपों – भोजपुरी, मगही, मैथिली, अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी, ब्रज, बुन्देली, कौरवी, राजस्थानी, पहाड़ी आदि का ही नाम हिन्दी है, जिसे अलग–अलग मानना हिन्दी का विभाजन करना है। इस सन्दर्भ में पाश्चात्य विद्वान प्रो० एमेन्यू ने भारतीय भाषाओं के परिप्रेक्ष्य में टिप्पणी लिखा था कि प्रायः संरचना के आधार पर भारत की सभी भाषाओं में अद्भुत समानता मिलती है क्योंकि इनका वर्णात्मक, रूपात्मक एवं वाक्य–विन्यासात्मक स्वरूप अधिकांशतः एक जैसा ही है इसलिये हिन्दुस्तान एक ही भाषा क्षेत्र का देश कहा जा सकता है। इस परिप्रेक्ष्य में पं० विद्यानिवास मिश्र जी का कथन प्रमाणित करता है। उन्होंने 'हिन्दी का विभाजन लेख' में कहा है – 'हिन्दुस्तान ग्यारहवीं या बीसवीं की ओर लौट रहा है। हर तरफ खण्ड–खण्ड होने की इच्छाएँ की जा रही हैं। एक भयंकर षड्यन्त्र अंग्रेजी–परस्तों और विदेश–परस्तों द्वारा चलाया जा रहा है। हिन्दीभाषी जनता, जो भारत की केन्द्राभिमुख–शक्ति का वाहक रही है, भाषा के स्तर पर विभाजित करने के लिए गुमराह की जा रही है। लोग मातृभाषा के आन्दोलन के नाम पर हिन्दीभाषी होते हुये भी क्षेत्रीय विभाषाओं के अधिकारों का दावा करने लगे हैं। जहाँ आन्दोलन होना चाहिये कि संख्या और प्रकाशित साहित्य की मात्रा के आधार पर हिन्दी को उसके अनुरूप गौरव मिलना चाहिये, वहाँ मैथिली, भोजपुरी, राजस्थानी, ब्रज, अवधी, बुन्देली, मालवी, हरियाणवी, कुमाऊँनी आदि को हिन्दी के बराबर दर्जा दिये जाने की माँग की जा रही है।''[7]

इस हिन्दी उपभाषाओं या विभाषाओं के महत्त्व को स्पष्ट किया है, तथा हिन्दी

समाज के लिए हिन्दी भाषा और साहित्य की आवश्यकता पर बल देते हुए लिखा है – ''हिन्दी भाषाओं का योग नहीं है और न ही भाषाओं को विस्थापित करने वाली कोई एक भाषा है। वह हिन्दी क्षेत्र के अलग–अलग जनपदों की भाषा से निरन्तर अनुप्राणित होती रही है। देशव्यापी मानव भाषा कोई रही हो, उसमें दूसरी भाषा के शब्द, रचनाएँ, मुहावरे आदरपूर्वक लिये जाते रहे हैं और आज भी लिये जा रहे हैं।''[9]

इस प्रकार पण्डित जी ने हिन्दी के विविध भाषारूपों या विभाषाओं की बोलियों को जनपदीय भाषा का अभिधान करते हुये 'हिन्दी की जनपदीय कविता' का प्रकाशन भी कराया था। हिन्दी समाज विश्व के अनेक देशों में फैल चुका है। विदेश के अनेक विश्वविद्यालयों–कालेजों में पढ़ाई–लिखाई के साथ शोध का कार्य भी हो रहा है। पूरा विश्व हिन्दी समाज बनेगा। अंग्रेजी बाजारू भाषा अवश्य बनी हुई है किन्तु भारतीय वस्तुओं के साथ भी हिन्दी बाजार में जम रही है। इस संभावना की दूरदृष्टि डॉ० मिश्र में स्पष्ट परिलक्षित होती है। उन्होंने लिखा है – ''हिन्दी का इतिहास किसी शासक का मोहताज नहीं रहा है। इसलिये हिन्दी ने अपनी साधारण जनता के भाषा व्यवहार से अपने को सम्पन्न किया है। उसके इस सामर्थ्य ने ही उसे सार्वदेशिक भाषा बनाया है और यही सामर्थ्य उसे अन्तर्राष्ट्रीय भाषा भी बनायेगा।''[10]

निःसन्देह अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूव पाने में समर्थ है जो 21वीं सदी के अन्त तक विश्व की पहली भाषा बन जायेगी तथा विश्व की सैकड़ों भाषाएँ अपना अस्तित्व खोकर समाप्त हो जायेंगी तब भी अपना स्थान हिन्दी कायम रहेगी क्योंकि यह भारत की संघर्षभाषा है और करोड़ों जनता की स्वदेशी पहचान है और हिन्दुस्तान की हिन्दी शान है। इसे पंडित जी ने डिमडिम–घोष के साथ अन्तर्राष्ट्रीय भाषा बनने की पूर्णक्षमता बताते है–''हिन्दी और स्वाधीनता दोनों एक–दूसरे के पर्याय है। हिन्दी मुक्ति के लिए संघर्ष की भाषा रही है और मुक्ति केवल अपने देश के लिए नहीं, उन समस्त देशों के लिए है जो उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद और प्रभाववाद में जकड़े जा रहे हैं या जकड़े हुए है।''[11]

उनकी हिन्दी के प्रति सदैव चिंता बनी रही कि हिन्दी की दुर्दशा के लिये हम दोषी हैं क्योंकि हम अपने अवमूल्यन, अपने दोष–परीक्षण में इतने लगे रहते हैं कि सिर ऊँचा करे यह नहीं कह पाते कि हिन्दी का होना उस परम्परा का होना है जिसमें कबीर का फक्कड़पन है, सूर का महाराग है, तुलसी के निर्बल राम के बल राम हैं, रहीम और रसखान की रसमय नानक है, हरिश्चन्द्र की निष्ठा है, प्रसाद और प्रेमचन्द की साधना है, निराला, नवीन और अज्ञेय जैसे कवियों का दुर्घर्ष पराक्रम–भाव है, मीरा की शूली की सेज है, राजसी लिबास और राजसी मर्यादा। हमें अपना स्वभाव वापस चाहिये। हमें अपने देश का स्वभाव वापस चाहिये। हमलोग क्यों नहीं कहते, यह मेरी समझ में नहीं आता। हम अपनी प्रतिष्ठा स्वयं क्यों नहीं करते, यह समझ में नहीं आता।

हिन्दी के प्रति हिन्दीव्रती व सेवकों की चिंता आज भी शाश्वत बनी हुई है। कांग्रेस के कराची अधिवेशन की राष्ट्रभाषा की घोषणा के बाद भी हिन्दी राष्ट्रभाषा बनने

में समर्थ होकर पदच्युत की जा रही है। अपने अन्यान्य पदों को सुशोभित करने वाले पद्मभूषण पंडित विद्यानिवास मिश्र ने जीवनपर्यत एक साहित्यिक व भाषा–वैज्ञानिक के रूप में हिन्दी के विकास एवं उत्थान के लिए सतत् प्रयत्न किया। उनके अमूल्य योगदान की स्मृति में ही उन्हें हमें सदैव स्मरण करते हैं और करते रहेंगे।

उनके ओजस्वी वक्तव्यों, हृदय की पीड़ा और उनकी चिन्ताधारा से अवगत कराने में समर्थ उनकी प्रसिद्ध कृति – 'हिन्दी और हम' से प्रेरणा ले सकते हैं तथा राष्ट्र, भाषा तथा हिन्दी के उनकी विचारधारणा से अवगत हो सकते हैं, इन्हीं शब्दों के साथ अवगत हो सकते हैं, इन्हीं शब्दों के साथ अनन्य भाषा के तपस्वी को प्रणाम करते हुये श्रद्धांजली समर्पित करता हूँ।

संदर्भ

1. आचार्य विद्यानिवास मिश्र – हिन्दी और हम, एक ऐतिहासिक भूल, पृ० 131।
2. आचार्य विद्यानिवास मिश्र – हिन्दी और हम, एक ऐतिहासिक भूल, पृ० 131।
3. आचार्य विद्यानिवास मिश्र – हिन्दी और हम, एक ऐतिहासिक भूल, पृ० 131।
4. आचार्य विद्यानिवास मिश्र – हिन्दी और हम, एक ऐतिहासिक भूल, भूमिका पृ० 06।
5. आचार्य विद्यानिवास मिश्र –हिन्दी और हम, एक ऐतिहासिक भूल, राष्ट्रभाषा की समस्या पृ०77।
6. आचार्य विद्यानिवास मिश्र–हिन्दी और हम, एक ऐतिहासिक भूल, हिन्दी बनाम राजनीति,पृ० 68।
7. आचार्य विद्यानिवास मिश्र – हिन्दी और हम, एक ऐतिहासिक भूल, हिन्दी अपने भरोसे, पृ० 63–64।
8. आचार्य विद्यानिवास मिश्र – हिन्दी और हम, एक ऐतिहासिक भूल, हिन्दी बनाम राजनीति,पृ०68।
9. आचार्य विद्यानिवास मिश्र – हिन्दी और हम, एक ऐतिहासिक भूल, हिन्दी समाज, पृ० 96।
10. आचार्य विद्यानिवास मिश्र – हिन्दी और हम, एक ऐतिहासिक भूल, हिन्दी समाज, पृ० 84।
11. 9. आचार्य विद्यानिवास मिश्र – हिन्दी और हम, एक ऐतिहासिक भूल, अन्तर्राष्ट्रीय भाषा के रूप में हिन्दी की क्षमता, पृ० 104।

सांस्कृतिक समारोहों की अनुपम नगरी 'काशी'

श्री महेन्द्र मिश्र

नेट,पी.एच.डी.

अत्यन्त प्राचीन काल से लेकर अब तक अविच्छिन्न रूप से काशी को विश्व की प्रमुखतम धार्मिक नगरी होने का गौरव प्राप्त है,जिसके उदाहरण काशी के देवालयों, मन्दिरों में निनादित घण्टे–घड़ियाल, नगाड़े इत्यादि की संगीतमय स्वर–लहरियों से प्राप्त होता हैं। काशी भारत की ऐसी विलक्षण नगरी है,जहाँ सम्पूर्ण देश के धर्म, वर्ग, सम्प्रदाय, पंथ, परम्परा के दर्शन एक साथ हो जाते हैं। यहाँ धार्मिक ग्रन्थों में वर्णित तैतिस करोड़ देवताओं के मन्दिर स्थित रहें और विभिन्न मतों, पंथों परम्पराओं के अनुयायियों के भी अनेक देवस्थान कीर्ति मन्दिर आदि अपनी विशिष्टता, पवित्रता, शिल्प एवं वास्तुकला के अप्रतिम प्रतीक के रूप में सुप्रसिद्ध रहे है। नगर के अधिकाशं मन्दिरों में कीर्तन, भजन, नृत्य संगीत का भावपूर्ण प्रदर्शन होता रहा। यहाँ के नागरिकों के इन स्थानों के माध्यम से संगीत की विभिन्न गायन, वादन एवं नर्तन की शैलियों के उत्कृष्ट कलाकारों को सुनने का सुअवसर प्राप्त होता रहा। काशी के ऐसे प्रमुख मन्दिरों में पंचगंगा घाट स्थित जड़ाऊ मन्दिर नीचीबाग स्थित मन्दिर में श्रावणझूलनोत्सव, कृष्णजन्माष्टमी, होली आदि विशेष सांस्कृतिक उत्सवों की परम्परा काशी में रही है और आज भी वह विद्यमान है।

दुर्गामन्दिर, धूमावती देवी मन्दिर, शीतला मन्दिर के अलावा नगर के अनेकों देव स्थानों के वाार्षिक श्रृंगार पर होने वाले सांस्कृतिक समारोंहो की झाँकी प्राप्त होती हैं राधााकृष्ण मन्दिर के वार्षिक श्रावण झूला, जन्माष्टमी आदि धार्मिक एवं मांगलिक अवसरों पर सांस्कृतिक समारोह, चैत्रमास की पुर्णिमा एवं दीपावली पर हनुमत–जयन्ती के अवसर पर काशी के संकटमोचन मन्दिर का वृहत् संगीत समारोह पूरे विश्व में काशी नगर को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान करवाया है। अघोरपंथ कीनाराम के सिद्धपीठ, कबीरचौरा स्थित औघढ़नाथ की तकिया आदि विभिन्न स्थानों के प्रति काशी के संगीतज्ञों एवं संगीत प्रेमी नागरिकों की बड़ी सुदृढ़ आस्था रही है, जिससे इन सिद्धपीठों के उत्सवों में सांस्कृतिक आयोजन, गुरूपूर्णिमा के अवसर पर राजघाट स्थित कुष्टाश्रम के सिद्ध अवधूत भगवान राम आश्रम में संगीत का आयोजन होता था। जहाँ साधक एवं श्रोता एक संगीतमय श्रृंखला में परस्पर बँधकर संगीत का अनुभव रसास्वादन करते थें।

18वीं शदी में पल्लवित ''गुलाब बाडी'' संगीत समारोह' चैत्र मास के गुलाब के फूलों से सुगंधित वातावरण, गुलाबी प्रकाश, गुलाब जल, इत्र गुलाल से सराबोर वातावरण में विशेष रूप से चैती एवं होली गायन की विशिष्ट शैली का आनन्द लेने के लिए

आयोजित होता थी। काशी की इन सांगीतिक महफिलों में आमंत्रित लोगों ने महफिलों के मोहक सौन्दर्य तथा मनोभावनी गायकी से प्रभावित होकर अन्य नगरों में भी ऐसी ही सांगीतिक महफिलों के आयोजन की परम्परा शुरू की किन्तु काशी जैसी श्रीवृद्धि उन लोगों को नहीं मिल सकी।

गुलाब बाड़ी संगीत समारोह के आयोजन के लिए काशी के सांगीतिक आयोजको में होड़ लग जाती थी। नगर एवं नगर के बाहर बगीचों में नष्त्य संगीत के अनुपम आन्नद लेने के लिए लोग उत्साही हो उठते थे। गुलाबी पगड़ी, गुलाबी कुर्ते, धोती, चादर, दुपट्टे में लोग एक–दूसरे को अबीर गुलाल लगाते, कुमकुमा फेंकते, हास–परिहास करते संगीत के रस में डुब जाते थे।

काशी का बुढ़वा मंगल संगीत समारोह मुग़लकाल के अन्तिम दौर मे हिन्दुस्तान के सबसे बड़े संगीत मेले के रू‌प में प्रसिद्ध था। इसमें उस समय के विख्यात गायकों ओर गायिकाओं के कलाप्रदर्शन से माँ गंगा की एक–एक लहरें, तट पर स्थित विशाल अट्टलिकाएँ एवं देव प्रतिमाएँ भी नगरवासियों के साथ–साथ जीवन्त हो उठती थी। रात भर माँ गंगा की निर्मल गोद से टकराती स्वर–लहरियाँ उपस्थित संगीत–रसिक श्रोताओं को आनंदित कर देती थी। ''अभिज्ञान–शाकुन्तलम्'' में इसी से मिलते–जुलते उत्सव को ''उदु–मंगल'' की संज्ञा दी गई।[2]

बुढ़वा मंगल अपनी आन–बान–शान के लिए अद्दितीय रहा। कल्याण मूर्ति शिव की मुद्रा को आत्मसात कर बनारस के लोगों ने बुढ़वा बाबा के मंगलरूप का शिव विवाह के अवसर पर मंगलोत्सव मनाना शुरू किया और नाम दिया बुढ़वा मंगल। यह प्राचीन मदन–महोत्सव का ही रूप है। कवि पुष्कर जी के अनुसार–''कुछ लोग इसे मंगलकारी मेला भी कहते है।[3] शचीन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय कृत''काशीघाम'' जो 18वीं शती के प्रारम्भ की कृति है, इसके अनुसार बुढ़वा–मंगल मेले को बढ़ाने में मीर रूस्तम अली का बड़ा सहयोग था। महाराज जयनारायण घोषाल ने अपनी कृति''काशी–परिक्रमा'' में बुढ़वा मंगल मेला के आयोजन का सजीव चित्रण किया है।[4]

होली का पर्व काशी में बड़े उत्साह के साथ मनाया जाता है। लोग काशी विश्वनाथ मन्दिर में इकट्ठा हो अबीर–गुलाल से होली खेलते है। लोग टोलियाँ बनाकर होली गाते हुए नगर में धूमते हैं यहाँ के सारे मन्दिरों में होली निखार पर रहता है। शहर के मशहूर संगीतज्ञ लोग देर रात तक अबीर एवं गुलाल के बीच अपने संगीत कला का प्रदर्शन करते रहते है। लोग आपसी मतभेद भुलाकर एकता की भावना के साथ संगीत कला का प्रदर्शन करते है। इस अवसर पर संसार के कोने–कोने से लोग इकट्ठा होते है और संगीत कला का आन्नद लेते है।

पूर्वी उत्तर प्रदेश में ग्राम्यांचलों में वर्षागीत के रूप में कजरी प्रचलित है, किन्तु मीरजापुर, बनारस और जौनपुर में इसकी शैलियाँ विकसित हुई और आज भी विद्यमान है।

कजरी गायन का आरम्भ दशहरा से ही शुरू हो जाता है। पुर्वी उत्तर प्रदेश में कजरी– महोत्सव मनाने की परम्परा आज भी प्रचलित हैं। कजरी का सबसे प्रिय बोल है–

''कईसे खेलन जइबु सावन में कजरिया,
बदरिया घिरि आई ननदी।''

बनारसी कजली की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि काशी के संगीताचार्यों ने कजरी को शास्त्रीय धुनों में पिरोकर उपशास्त्रीय गायन की एक लोकप्रिय परंपरा का विकास किया, कोकिल–कंठि गायिकाओं ने उसमें प्राण फूका। आज भी जब कोई कजली गीत फिल्मों में आ जाती है, तो धूम मचा देती है। यही बनारस की विशेषता है। संगीताचार्यों के इस प्रयास से कजरी आभ्जित्य वर्ग में भी प्रतिष्ठित हुई।

अस्सी के पास लोलार्क कुंड़ पर यह मेला लगता है।[5] ''झुलनियाँ मोरी अटकी सैयाँ की जुलुफियाँ'' चुस्त चूड़ीदार पायाजामा, गोटा लगा कुर्ती, नाको में नथ, कानों में झुमके, आँखों में काजल, सिर पर टोपी पहने हुए मिर्जापूरी डफ–सारंगी की संगत पर अस्सी से सोनारपुरा तक सजी–धजी चौकियों पर गाती हुई गाने–बजानेवालियाँ इस मेले की रौनक थी। चौकियों की सजावट में शौकिनों की कला झलकतर थी। दीपावली की तरह लोग घरों की सजावट करते थे। शाम से सबेरे तक गायकों के अखाड़े अपना–अपना झंडा और रोशनी लिए मेलें में गाते धूमते रहते थे।

कर्क संक्रान्ति को सूर्य दक्षिणायन होते है, इस दिन शंकुलधारा पर मेला लगता था।(6) दिन भर मेले पर राज–रजकर शाम होते–होते कजली गायको के अखाड़े लग जाते थे। मिर्जापुरी गौनहारिनें और लखनऊ के भाड़ मेले की रौनक बढ़ाते थे। आजादी के पूर्व सोनारपुरा, लक्सा, गिर्जाधर, नखास आदि स्थानों में कजली का दंगल होते था। सड़क के दोनों ओर दा दलवालें बैठते और सवाल–जवाब करते थें।

बनारस में सावन का अपना अलग ही अन्दाज है। सावन से ही बनारस में त्यौहारों और मेंलों का उत्सव शुरू हो जाता है। सावन के महीने में बनारस के मन्दिरों में झूला डालने की परंपरा रही है। बांसफाटक स्थित सत्यनारायण मन्दिर में सावन मास में झूला डालने की पंरपरा बरसों से चली आ रही है। इस अवसर पर देर रात्रि तक मन्दिरों में संगीत का आयोजन चलता रहता है। चौखम्भा स्थित प्रसिद्ध गोपाल मन्दिर, मानस मन्दिर, रानी दरभंगा मन्दिर, छत्तातले के राधा–कृष्ण मन्दिर आदि में भी झूला पड़ता था और संगीतिक कार्यक्रम होते थे। जो आज भी प्रचलित प्रायः है।

इसके अलावा संगीत परिषद्, ललित चक्र, भाव प्रभा पद्म, संकट मोचन संगीत समारोह आदि संस्थानों की ओर से ध्रूपद मेला, रिम्पा आदि सांगीतिक समारोहों का आयोजन किया जाता था। काशी की शताद्वियों पूर्व की अजस्त्र सांस्कृतिक संगीतमय ध ाारा को निरन्तर बनाए रखने में यहाँ के मन्दिरों, संगीत विद्यालयों, सांस्कृतिक संस्थाओं, धार्मिक उत्सवों, पर्वो, वंश–परम्परा के कलाकारों, ऋतु–परिवर्तन से संबंधित अनेकों

उल्लासमय सांगीतिक उत्सवों तथा समाज के हर वर्ग, संप्रदाय के लोगों ने सामूहिक रूप से अपना–अपना योगदान दिया है।

अतः यह कहा जा सकता हैं कि काशी प्राचिनकाल से ही सांस्कषतिक नगर के रूप अपनी प्रवाहमय सांगीतिक समारोहों की धारा को निरंतर प्रवाहित करती हुई चली आ रही है और आगे भविष्य मे भी यह अपनी इस सांगीतिक समाराहों, उत्सवों, पर्वों आदि को पतित–पावन गंगा की निर्मल धारा की तरह प्रवाहित करती रहेगी।

संदर्भ ग्रंथः

1. डॉ0 भानु शंकर मेहता –सो कासी सेइअ कस न –पृ0,17–18
2. डॉ0 प्रिय कुमार चौबे – काशी का सांस्कृतिक समारोह–बुढ़वा मंगल–दैनिक जागरण, महानगर वाराणसी, –8 मार्च 2001 –पृ0,4
3. विश्वनाथ मुखर्जी – यह बनारस है, द्वितीय खण्ड –पृ0,61
4. कामेश्वर नाथ मिश्र – काशी की संगीत परंपरा –पृ0,56–58
5. डॉ0 मोती चन्द्र – काशी का इतिहास –पृ0–308
6. वही –पृ0–309

भारतीय शास्त्रीय संगीत और पाश्चात्य संस्कृति एक विवेचन

सुश्री अनामिका दीक्षित

एस्सिटेंट प्रोफेसर, आर्य महिला पी0 जी0 कालेज, चेतगंज, वाराणसी

पाश्चात्य जीवन शैली भोगवादी संस्कृति की पोषक है तो भारतीय सभ्यता दर्शन संस्कृति (संस्कार) एवं आध्यात्मवादी है। इसमें कोई संदेह नहीं होता कि एक बर्हिमुखी है तो दूसरी अन्तरमुखी, दोनों सभ्यताओं की बात कहें तो एक भोग विलासिता से परिपूर्ण है तो दूसरी धर्म संयम एवं त्याग से परिपूषित, जैसे पाश्चात्य संस्कृति को भोगवादी संस्कृति माना गया जिसमें वैज्ञानिक विकास के साथ–साथ सुख सुविधाओं की आवश्यकताओं पर पूरा बल दिया जाता है। या यूं कहा जाय मानवीय शक्ति को पूर्ण रुप से सृष्टिगत जगत में हृदयगत करना है, जिसमें मानसिक शक्ति या मोक्ष की बातें दूर–दूर तक दिखाई नहीं देती सिर्फ और सिर्फ इन्द्रिय सुखों के लिए ही शारीरिक सारी ऊर्जा झोंक दी जाती है। वहीं भारतीय शास्त्रीय संगीत में नाद ब्रह्म की उपासना कही गई है। भारतीय शास्त्रीय संगीत को ईश्वर प्राप्ति का मार्ग भी बताया गया है। ऋषि मुनियों ने कहा है कि सृष्टि के समय स्पन्दन हुआ और पहली ध्वनि ओम की हुई, और इसी ओम की ध्वनि से संगीत की उत्पत्ति हुई। भारतीय शास्त्रीय संगीत में कलाकार अपनी साधना द्वारा कला को निखारकर स्वयं एवं सभी को ईश्वर प्राप्ति का मार्ग सशक्त करने का प्रयास करता है।

भारतीय संस्कृति के सांगीतिक या आध्यात्मिक पक्ष को देखा जाय तो उसमें सार यही मिलता है कि मनुष्य शरीर के माध्यम से आत्मा या परमात्मा में किस प्रकार से मिलन हो इसके लिए मनुष्य का अन्तरमुखी होना आवश्यक है। जैसे भारतीय शास्त्रीय संगीत को ईश्वरोपासना का सर्वश्रेष्ठ साधन माना गया है। जिसकी साधना करने हेतु विशिष्ट आसनों का उपयोग बताया है। हमारे संस्कृति में ईश्वरोपासना एवं नित्य पूजन कर्मविधि भी आसनों पर बैठकर ही बताई है। जिसके माध्यम से आत्मा में परमात्मा का मिलन संभव होता है। अन्तरमुखी होने का अर्थ यह नहीं कि बाहय जगत से कोई मतलब नहीं बल्कि भौतिक सामग्री उतनी ही होनी चाहिए जितनी की व्यक्ति शुद्ध एवं व्यवस्थित रख सके और आध्यात्मिक विकास में सहयोग प्रदान करे।

सम्पूर्ण विश्व में अनेक संगीत पद्वतियां तथा परम्पराएं प्रचलित हैं। परन्तु सम्पूर्ण विश्व भारतीय संगीत पद्धति एवं पाश्चात्य संगीत पद्धति को पूर्ण और विलक्षण मानता है, भारतीय पद्धति (Melody) पूर्णतया मेलोडी पर आधारित है और पाश्चात्य संगीत हारमनी पर। मेलोडी पद्धति में गायन वादन के अन्तर्गत किसी विशिष्ट स्वर समूह को लेकर स्वरों का क्रमिक विकास किया जाता है। इस पद्धति में सभी स्वर आधार बड़ज

स्वर से कभी अपना सम्बन्ध नहीं छोड़ते तथा आधार स्वर से अन्य स्वरों का सम्बन्ध अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जाता है। जब एक स्वर को इस प्रकार रखा जाये कि स्वर रचना चिताकर्षक बन जाये तो मेलोडी कही जाती है, परन्तु जब दो अथवा दो से अधिक स्वरों के मेल से संगीत रचना की जाय तो उसे हारमनी कहेंगे। दो से अधिक स्वरों के संयोजन से जो ध्वनि उत्पन्न होती है, उसे कॉर्डस कहते हैं।

पाश्चात्य संगीत केवल (शरीर हिलाने) शरीर को स्पंदित करता है। जिसका ज्वलंत उदाहरण हमारे आजकल प्रसारित होने वाले रिमिक्स गानों या डीजे पद्धति पर देखा जा सकता है, परन्तु ये क्षणिक ही मन पर प्रभाव डाल पाने में सक्षम होते हैं। वहीं शास्त्रीय संगीत मन को हिलाने या अन्तरमन को प्रफुल्लित करने का कार्य करता है। जिसका उदाहरण आज भी देखने को मिलते है। प्राचीन हिन्दी गाने आज भी बड़े चाव से लोगों द्वारा पसन्द किये जाते रहे हैं क्योंकि वो मन मस्तिष्क को सुकुन पहुॅचाने में कारगर हैं और वो आज भी लोगों के दिल दिमाग में छाये रहते हैं।

वर्तमान में लगभग एक दशक पूर्व से ही पाश्चात्य सभ्यता पर भारतीय सभ्यता एवं भारतीय सभ्यता का पाश्चात्य सभ्यता पर प्रभाव पड़ रहा है। जिसके कारण ये दोनों सभ्यताएं एक दूसरे का अनुकूलन बड़ी निष्ठा एवं लगन से कर रही हैं। जिसका उदाहरण हम खानपान एवं परिधान इत्यादि में भी देख सकते हैं। भारतीय सभ्यता में भी आजकल कॉनटिनेन्टल खाने का प्रचार बहुतायत से प्रचरित हो गया। चाऊमीन, बर्गर, पिज्जा इत्यादि ने अपनी पैठ बना ली। परिधानों में भी जीन्स, टी शर्ट, स्कर्ट इत्यादि ने भारतीय सभ्यता पर पहुॅच बना ली है, वहीं आजकल बहुत से विदेशियों को भारतीय परिधानों में देखा जा रहा है, वो भारतीय सभ्यता के परिधानों में साड़ी, कुर्ता पायजामा इत्यादि का प्रयोग कर रहे हैं, वो हमारे यहॉ की रीति रिवाजों से प्रभावित होकर उन रीतियों को अपनाकर उन्हें आत्मसात कर उनके अनुसार जीवन यापन करने में विश्वास पैदा कर रहे हैं, फिर वो हिन्दू रीति रिवाजों से विवाह करना हो या फिर पारिवारिक जीवन यापन। वहीं भारतीय सभ्यता पाश्चात्य सभ्यता को अपनाकर उसे आत्मसात कर रही है जिस प्रकार विदेशियों ने भारतीय सभ्यता के सारी रीति रिवाज पहनावा इत्यादि अपनाया है, उसी प्रकार भारतीयों ने विदेशों के रीति रिवाज को अपनाया है।

भारतीय शास्त्रीय संगीत के अन्तर्गत प्रमुख रुप से दो पद्धतियां प्रचलित हैं। पहली हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति जो भारत के उत्तर प्रान्तों में प्रचलित है, यह पद्धति अपने प्रारम्भिक समय से लेकर वर्तमान तक परिवर्तनशील रही है। प्रारम्भ में ध्रुपद गायन वादन का प्रचलन था, इसके पश्चात 12 वीं शताब्दी में सुल्तान हुसैन शर्की जी ने ख्याल शैली का प्रचलन शुरु किया। वर्तमान में कुछ प्रसिद्ध कलाकारों द्वारा प्रमुखतः भारत रत्न पं. रविशंकर जी ने संगीत में प्रयोगात्मक संगीत के आधार पर भारतीय एवं पाश्चात्य संगीत को लेकर यूजन म्यूजिक की रचना की, जिसका उद्देश्य है वैश्वीकरण। अर्थात संगीत के इस मिलन के माध्यम से विश्व की विभिन्न संस्कृतियों का आपसी सद्भाव एवं सौहार्दपूर्ण वातावरण की कल्पना साकार हो। ऐसा नहीं है कि केवल तंत्र वाद्यो में ही यूजन म्यूजिक किया जा रहा है। ख्याल शैली में भी इसका प्रयोग हुआ है।

ये तो था उत्तर भारतीय हिन्दुस्तानी संगीत का परिवर्तनशील स्वरुप दूसरी तरफ कर्नाटक संगीत अपरिवर्तनशील होकर भी अपनी प्रारम्भिक अवस्था में ही वर्तमान तक कायम है। जहॅा तक विचार किया जाय तो आज के वर्तमान समय में हमारी संस्कृति पर उनकी सभ्यता का ज्यादा प्रभाव पड़ा है। उसी तरफ पाश्चात्य सभ्यता के लोगों पर भारतीय शास्त्रीय संगीत का प्रभाव बहुतायत से पड़ा है। आज न जाने कितने ही विदेशी हर साल भारत में आकर न केवल शास्त्रीय संगीत की शिक्षा ग्रहण करते हैं, बल्कि उसको आत्मसात कर अपने देश में बिखेरते हैं, कहीं न कहीं हमने अपनी भारतीय संस्कृति को अपने देश में ही नहीं वरन् कई देशों में विकसित किया है। इसका प्रमुखतम् श्रेय हमारे प्रख्यात् संगीतज्ञों को दिया जाता है, जिन्होंने भारत के शास्त्रीय संगीत की संस्कृति को विदेशों में फैलाकर भारतीयता का परचम लहराया है, क्योंकि हमारे भारतीय शास्त्रीय संगीत में प्रत्येक बीज रुप सप्तक बनता है, और किसी दूसरे स्वर से इसका सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। पाश्चात्य संगीत में आधार स्वर न होने से हमें वह संगीत सुनते समय ऐसा लगता है जैसे उसमें कुछ कमी रह गई है। पाश्चात्य संगीत में बुद्धिवादी दर्शन का स्पष्ट प्रभाव झलकता है। भारतीय संगीत पद्धति में कण स्वरों का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है, कण स्वर भारतीय संगीत के माधुर्य सौन्दर्य वृद्धि में अद्वितीय योगदान करते हैं। पाश्चात्य संगीत में कण को (Grace note) के रुप में पहचाना जाता है, परन्तु हारमनी पद्धति में प्रयुक्त होने के कारण उनका स्वरुप भारतीय संगीत की अपेक्षा एकदम अलग सुनाई पड़ता है।

पाश्चात्य वर्ग के लोगों पर भारतीय शास्त्रीय संगीत का प्रभाव पड़ा क्योंकि जब कभी उन्हें भारतीय शास्त्रीय संगीत का सानिध्य प्राप्त होता है उनके अन्दर उस असीम शान्ति के लिए प्यास जागृत होती है, जो मनुष्य को सृष्टिगत जगत से सूक्ष्म जगत की यात्रा करा कर मोक्ष प्रदान करता है, वहीं पर पाश्चात्य संगीत इन्द्रिय स्पन्दन प्रदान कर इन्द्रिय सुखों तक ही सीमित रखता है, जिसकी पहुॅच मन और बुद्धि से परे नहीं की जा सकती जिसके कारण आध्यात्मिक सुख या असीम शान्ति की अनुभूति नहीं कर पाते, हम यह नहीं कहते कि पाश्चात्य संगीत असभ्य या गलत है क्योंकि– किसी भी देश, प्रदेश, प्रान्त की संस्कृति से ही उसकी पहचान होती है, और कई सभ्यताओं को मिलाकर ही सौहार्द का वातावरण भी बनाया जा सकता है, क्योंकि संगीत की कोई जाति, भाषा, और कोई वर्ग विशेष नहीं होता।

Because Music is our Universal Language

सन्दर्भ ग्रन्थ

- सौन्दर्य रस एवं संगीत
- निबन्ध संगीत
- संगीत का योगदान मानव जीवन के विकास में

ग्रामीण सामाजिक रूपान्तरण दशा और दिशा एक समाज शास्त्रीय अवलोकन

विपिन कुमार तिवारी

शोध छात्र, समाजशास्त्र विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी–221005

आज कल ग्रामीण भारत में होने वाले परिवर्तन जो भारतीय ग्रामीण समाज के बहुत बड़े भाग में दृष्टिगोचर होते हैं सामाजिक ढाँचे के पुर्ननिर्माण की तीव्र प्रक्रिया का सूत्रपात करते दिखाई दे रहे हैं। इसके कारण सामाजिक परिवर्तन की आंशिक प्रकृति खाण्डित हो रही है। कृषि में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी का पर्याप्त उपयोग हो रहा है तथा मूल्यों एवं आस्थाओं में पर्याप्त परिवर्तन हो रहा है। हरित क्रांति कृषि उत्पादों में वृद्धि का ही नहीं बल्कि उत्पादन की प्रक्रियाओं में नई प्रौद्याोगिकी के इस्तेमाल और अभिन सामाजिक सम्बन्धों का भी प्रतीक है। इस प्रकार की विकास प्रक्रिया ने ग्रामीण अर्थव्यवस्था तथा समाज में परिवर्तन के नये चरण को एक विशिष्ठ प्रक्रिया का रूप दे दिया है ग्रामीण भारत में प्रौद्योगिकी सामाजिक सम्बन्ध एवं संस्कृति के बीच एक नई अन्तःक्रिया आरम्भ हो रही है। इसके परिणामस्वरूप सामाजिक संरचना में गतिशीलता को जन्म दिया है।

चूँकि रूपान्तरण का प्रयोग भारतीय ग्राम्य कृषि विकास के सन्दर्भ में हुआ है इसलिए तथ्य स्पष्टीकरण हेतु कुछ सामाजिक परिस्थितियों का परिचय भी सामाजिक वाङ्मय रूपान्तरण प्रक्रिया में प्रकार्यो का विवेचन अनिवार्य है। सामाजिक विकास एवं आधुनिकीकरण के सन्दर्भ में संचार के विभिन्न प्रकार्यो पर विचार किया जाय तो इस क्षेत्र में उसकी कई सम्भावनाऐं अभिव्यक्त होती है। संचार साधन को उचित दिशा देकर नवीन मूल्य प्रतिष्ठापित किये जा सकते हैं समाज को परम्परा से प्रगति की ओर मोड़ा जा सकता है और उसकी सहायता से जनमानस को आधुनिकीकरण के लक्ष्य एवं कार्यक्रम स्वीकार कराने के लिए प्रेरित किया जा सकता है। जन संचार के साधन उनके सम्मुख नये जीवन का एक आकर्षक विकल्प प्रस्तुत कर रहे हैं उन्हें जड़ता का मार्ग छोड़ साक्रियता की शह अपनाने की प्रेरणा दे सकते है जागरूक जनमत प्रगति की अनिवार्य शर्त है, इसे तैयार करने में जन संचार के साधनों की बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका है।

सामाजिक परिवर्तन एक सार्वभौमिक प्रक्रिया है किसी–किसी रूप में प्रत्येक समाज में परिवर्तन होता रहता है। परिवर्तन की प्रक्रियाएं स्वाभाविक और नियोजित होती है रोजर्श 1969 सामाजिक सामाजिक परिवर्तन से सम्बन्धित अपने विवेचन में सामाजिक

परिवर्तन की प्रक्रिया को तीन चरणो में विभक्त किया है। अविष्कार, प्रसार एवं परिणाम अविष्कार एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा नवीन विचार उत्पन्न व विकसित किये जाते हैं। प्रसार भी एक प्रकार की प्रक्रिया है। जिसके द्वारा उन नवीन विचारों को दी गयी समस्त सामाजिक व्यवस्थाओं में प्रेषित किया जाता है इसका परिणाम परिवर्तन है। जिसके अन्तर्गत व्यवस्था में प्रौद्योगिकी का अंगीकरण अस्वीकरण घटित होता है।

भारतीय ग्रामीण समाज का आधार स्तम्भ कृषि व्यवस्था रही है स्वतंत्रता के बाद कृषि संरचना में परिवर्तन हेतु संस्थागत प्रयासों के फलस्वरूप भारतीय ग्रामीण संरचना के आधारभूत संकेत को– जैसे की वर्ग सम्बन्ध जाति, सम्बन्ध, जजमानी व्यवस्था, नातेदारी, परिवार संगठन सामाजिक तथा राजनैतिक सस्थाओं में आमूल चूल परिवर्तन हुए जिससे सामाजिक सम्बन्धों में शिथिलता आयी जिसने लोकतांत्रिक विचार धारा का विकास किया किन्तु इस प्रक्रिया ने शहरी और ग्रामीण विकास में विभाजक की भूमिका की निभायी वर्तमान अध्ययन की समस्या ग्रामीण क्षेत्रों की आर्थिक विषमता तथा असमानता का परिणाम है। भारतीय जनमानस की सामाजिक आर्थिक एवं सांस्कृतिक परिस्थिति समय, काल एवं क्षेत्र के अनुसार भिन्न–भिन्न है। आज हमारे देश की सबसे ज्वलन्त समस्या जनसंख्या वृद्धिदर है। देश की वैज्ञानिक एवं समाज वैज्ञानिक सोच आज गौरव की पराकाष्ठा पर स्थित है। तथापि उस ज्ञान का प्रचार–प्रसार भारतीय ग्रामीण जनमानस में न पहुँचपाना उसके संकुचित सोच के दायरे की तरफ इंगित करता है। अतएव यह आवश्यक है कि जहां हम प्रयोगशालाओं में बहुत ही सफल तथा उपयोगी परिणाम प्राप्ति के लिए लगे हुए हैं। वहीं इस ज्ञान को प्रयोगशालाओं से गाँव स्तर तक पहुँचाने के लिए उसी वैज्ञानिक सम्प्रेषण व्यवस्था को सामाजिक क्षेत्र में अर्पित करना होगा।

ग्रामीण समाज जो कृषि प्रधान होने के कारण कृषि पर आधारित है उसमें किसानो तथा समाज के कमजोर वर्ग के लोगों को सामाजिक एवं आर्थिक दृष्टि के साथ–साथ राजनीतिक एवं देश के भविष्य के चिन्तन के प्रति बोध कराने के लिए हमें कृषि की दशा में अवश्य ही क्रांतिकारी परिवर्तन करना होगा कृषि दशाओं से हमारा तात्पर्य कृषि में प्रयुक्त होने वाले आधुनिक संसाधन जैसे– उन्नतशील बीज, कीटनाशक दवाएं, आधुनिक कृषि यन्त्र तथा कृषि के नये तरीके एवं भूमि सुधार से है।

भारतीय कृषक अब तक परम्परावादी सामाजिक संरचना में रहते हुए इन नये विषय वस्तु, विचार एवं वैज्ञानिक प्रविधियों से या तो दूर रहना चाहते है या तो उनको बहुत ही अल्प मात्रा में अपनाते हैं तथा समाज का वह वर्ग जो आर्थिक प्रस्थिति एवं संज्ञान से उच्च है अन्वेषणकर्ता के रूप में आगे आता है, इन उभय पक्षों के बीच एक ऐसा भी वर्ग है जो ना तो अन्वेषणकर्ता की तरह तीव्रतर रखता है ना तो मन्दगामी की तरह शिथिलता रखता है, क्योंकि कृषि तकनीको का उपयोग छोटे तथा सीमान्त किसान अपनी

गरीबी तथा संसाधनों की कमी के कारण इसका उपयोग नहीं कर सके जिससे सामाजिक असमानता बढ़ी है।

मेण्डलबाम ने कहा है कि एक गाँव स्पष्ट रूप से इसके निवासियों के लिए एक महत्वपूर्ण और व्यवहारिक सामाजिक इकाई है। ये लोग वृहद समाज की गतिविधि ायों में भाग लेते हैं और सभ्यता के प्रतिमान में भागीदार है। अध्ययनों के उद्देश्य से कुछ हालातों में गाँव को विलग किया जा सकता है परन्तु अन्य हालातों में हम ऐसा नहीं कर सकते इसलिए गाँव का अध्ययन इसके स्थानीय परिवेश और बृहद परिप्रेक्ष्य दोनों ही दृष्टिगोचण से करने की आवश्यकता है।

1950 के दशक में भारतीय ग्रामीण समुदाय के बारे में अनेक अध्ययन प्रकाशित हुए। 1955 के वर्ष में श्यामाचरण दूबे का इण्डियन विलेज एम.एन. श्रीनिवास का (सम्पादित) इण्डियाज विलजेज डी0एन0मजूदार द्वारा सम्पादित रूरल प्रोफाइल्स और मैकिम मेरिमट द्वारा सम्पादित विलेज इण्डिया प्रकाशित हुए थे। इन सब अध्ययनों में ग्रामीण भारत की संरचना एवं प्रक्रिया की व्याख्या की गयी है। इन अध्ययनों में मुख्य पहलू जाति व्यवस्था, परिवार जजमानी, प्रथा, धार्मिक व्यवहार ग्राम व जाति पंचायते, विभिन्न जाति समूहों में, सामाजिक गतिशीलता और वयस्क मताधिकार शिक्षा विकास ग्रामीण जनता पर प्रभाव थे।

सामयिक परिस्थिति के परिप्रेक्ष्य में भारतीय संरचना का विवेचन करने पर परिलक्षित होता है कि आधुनिक शिक्षा, पाश्चात्य प्रविधि, उद्योगीकरण, नगरीकरण, यातायात, संचार साधन और इनके अतिरिक्त भौतिकवाद और अभिनववादी प्रवृत्तियों के जागरण के प्रादुर्भूत होकर आधुनिकीकरण की शक्तियों ने जातीय संरचना, श्रेणीकरण, सामाजिक स्तरण, कर्म की सैद्धान्तिक मान्यता, शुद्धता और अशुद्धता की धारणा से जुड़े बहुतेरी सशक्त परम्पराओं पर सांघातिक प्रहार किया है। इन शक्तियों के प्रहार ने नियत और निश्चित रूप से भारतीय समाज की संरचनात्मक और संस्थात्मक पहलुओं में आमूल परिवर्तन लाये हैं। यह एक यथार्थता है। इस परिवर्तन के परिणामस्वरूप सवर्ण हिन्दुओं से लेकर पिछड़ी जातियों, अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के सामाजिक, सांस्कृतिक और परिस्थिति चेतन स्तर में विशेष जागृति आयी है। फलतः समकालीन भारतीय समाज में उभरता असंतुलन, द्वन्द्व और कलह न केवल आर्थिक हितों को लेकर है, अपितु शक्ति प्रतिष्ठा और सत्ता की अभिप्राप्ति हेतु विभिन्न क्षेत्रीय समूह तथा भारतीय जनसमुदाय की विभिन्न इकाइयाँ अपने अस्तित्व, अधिकार और अस्मिता अर्थात् स्वयं की परिचयात्मक विशेषताओं के पुनप्रस्थापित करने हेतु अग्रसर हुई है।

संदर्भ

1. देशाई, ए0आर0 रूरल सोसियालाजी इन इण्डिया (एडिटेड) बाम्बे पापुलर प्रकाशन, 1969

2. मेण्डल बाम, डेविड जी0 सोसाइटी इन इण्डिया, बाम्बे पापुलर प्रकाशन
3. चौहान वी0आर0 ''रूरल स्टडीज प्रकाशन 1972
4. ऐ ट्रेंड रिपोर्ट इन सर्वे आफ रिसर्च इन सोसियोलॉजी एण्ड सोशल एन्थ्रोपोलाजी वाल्यूम I बाम्बे पापुलर प्रकाशन, 1974
5. शाह ए0एम0 एक्सप्लोरिंग इण्डियाज रूरल पास्ट ए गुजरात विलेज इन दा अरली नाइटीथ सेंचुरी आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस नई दिल्ली, 2002
6. सिंह योगेन्द्र, सोशल स्ट्रेटीफिकेशन एण्ड चेन्ज इन इण्डिया मनोहर प्रकाशन, नई दिल्ली, 1999
7. पाण्डेय पी0एन0 एप्रोचेज टू सोशल चेन्जिंग इण्डिया ए0 रिइक्जामीनेशन जर्नल आफ सोशल एण्ड इकोनामिक स्टडीज वाल्यूम 4 नं0 I सेज पब्लिकेशन नई दिल्ली, 1987

मानव जीवन में ताल का मनोवैज्ञानिक प्रभाव

पूर्णेन्द्र मिश्र

अंशकालिक प्रवक्ता, संगीत विभाग, आर्य महिला पी0जी0 कालेज, चेतगंज, वाराणसी।

मानव मस्तिष्क से सम्बन्धित प्राकृतिक ज्ञान और उसकी क्रिया– प्रणाली, मनोविज्ञान के अन्तर्गत आता है। मनोविज्ञान का संगीत से सम्बन्ध होने पर उसे संगीत का मनोविज्ञान कहा जाता है। संगीत की ध्वनि एवं ताल हमारे कर्णेन्द्रियों को इस प्रकार से प्रभावित करते है कि मानव शरीर में उत्तेजना और चेतना का प्रभाव होने लगता है। बोरिंग लांगफील्ड एवं वेल्ड ने मनोविज्ञान के सन्दर्भ में कहा है कि मनोविज्ञान अनुक्रिया में दिखाई पड़ने वाले व्यवहार तथा अनुभव में पाई जाने वाली चेतना से सम्बन्धित है।

मनोविज्ञान वह विज्ञान है, जो मन की चेतना और अचेतन क्रियाओं का निरीक्षण करके अपरोक्ष द्वारा मनुष्य की वाह्य क्रियाओं का अध्ययन करता है। 'मन' मानव जीवन का एक अत्यधिक महत्वपूर्ण घटक है, क्योंकि मनुष्य के प्रत्येक व्यवहार का मूल कारण उसका मन ही होता है वस्तुतः मन की उपर्युक्त अवस्थाओं में जिन क्रियाओं का अध्ययन होता है वे है स्मृति (Memory), ध्यान (Attention), चिंतन (Thinking), कल्पना (Imagination), ग्रहण (Learning), प्रेरणा (Inspiration), अनुभूति (Perception) आदत (Habit) भावना (Feeling) संवेग (Emotion) प्रतिभा (Intelligence) रूचि (Taste) व चित्तवृति (Mood) संगीत में ताल की लयात्मक गति मानव मस्तिष्क तंत्र की उन मांसपेशियों पर बहुत अनुकूल प्रभाव पड़ता है, जिनमें भावनाएं भरी रहती है। ये माँस पेशियाँ संगीत लहरियों के स्पन्दन द्वारा निष्क्रियता की अवस्था से निकल कर सक्रिय हो जाती है, फलतः तनाव कम हो जाता है।

संगीत रत्नाकर में ताल के सम्बन्ध में जो वर्णन मिलता है उसके अनुसार ''तालस्तल प्रतिष्ठायामिति धातोर्धञि स्मृतः। गीतं वाद्यं तथा नृत्यं यतस्ताले प्रतिष्ठितम्।। अर्थात् गीत, वाद्य एवं नृत्य की प्रतिष्ठा :ताल' पर हुई है।

संगीतार्णव नामक ग्रन्थ में ताल के सम्बन्ध में कहा गया है कि –

तांडवस्याद्यवर्णेन लकारो लास्य शब्द भाक्।
यदा संगच्छते लोके तदा ताल प्रकीर्तितः।।

अर्थात् ताण्डव नृत्य से 'ता' तथा लास्य नृत्य से 'ल' वर्णो के संयोग से 'ताल' शब्द का वर्णन मिलता है।

मानव जीवन में ताल की लयात्मकता व गति का अनुभव शैशव काल से ही

होने लगता है। डॉ0 मार्टिन गार्डिटर का मानना है कि मनुष्य अपने उम्र के छठे महीने से ही संगीत की लयों में बदलाव महसूस करने लगता है। मनुष्य को लय का ज्ञान, स्वर की अपेक्षा पूर्व में ही प्राप्त हो जाता है। प्रारम्भ में मनुष्य अपने मनोरंजन के लिए सर्वप्रथम नृत्य करना प्रारम्भ किया, नृत्य करते–करते क्रिया लयबद्ध होती चली गयी। 'प्राचीन मानव का नृत्य भाव की अपेक्षा लय–प्रधान अधिक था, नृत्य के साथ ताल देने के लिए और काल मापन के लिए ही इन चर्मानद्धवाघों का सर्वप्रथम निर्माण हुआ।

पाश्चात्य कवि जार्ज मेरेडिय ने एक स्त्री से कहा कि ईश्वर का सबसे बढ़कर आर्शीवाद है श्रेष्ठ स्त्री, तो उस स्त्री ने कवि जार्ज मेरेडिथ से कहा कि उससे भी बढ़कर दुर्लभ है सुन्दर संगीत। संगीत के प्राण– तत्त्वों में 'लय' की संवाहक ताल ही है, ताल के प्रस्तुतीकरण हेतु वर्त्तमान में अवनद्ध वाद्य सर्वप्रमुख हो गये है। तालों के प्रस्तुतीकरण सुनते समय अनायास ही हाथ, पैर व सिर हिलने लगते है। इसका अभिप्राय यह है कि आनन्द ही ताल के रूप में विद्यमान है।

तालमय ध्वनि से तात्पर्य उन रंजक लयात्मक ध्वनियों से है, जिनमें निश्चित ध्वनि–क्रम कें आवर्त्तन होते रहे है। लय ध्वनियाँ निश्चित ही उन ध्वनियों से श्रेष्ठ है जिनका सृजन लय–विहिन रूप में होता है। मानव शरीर एक सशक्त प्रयोगशाला है शरीर की स्थूल ध्वनियों को व्यवस्थित एवं लयवद्ध कर अध्यात्मक – साधनाएं हमें अत्यधि ाक लाभ दे सकती है। केनिया देश की 'लुओ' जनजातियाँ मानसिक बीमारी से पिंड छुड़ाने हेतु वनऔषधियों के सेवन के अतिरिक्त चिकित्सा पद्धति के रूप में नृत्य और नगाड़े की आवाज का उपयोग करती है। वैज्ञानिक उद्धारणों से यह प्रमाणित होता है कि लय – ध्वनियों का चर– अचर प्राणियों तथा जड़ वस्तुओं पर भी गहरा प्रभाव पड़ता है।

तालों की लय, जाति, बोल, प्रयुक्त तालवाद्यों इत्यादि के कारण तालों का मानव पर भिन्न–भिन्न प्रभाव पड़ता है और इनसे विभिन्न प्रकार के भावों की सृष्टि व पोषण होता है। लय तीन प्रकार के होते है। 1. विलम्बितलय 2. मध्यलय, 3. द्रुतलय, बिलम्बित लय गम्भीरता का प्रतीक है जब मनुष्य निराश, हताश एवं अपसाद्ग्रस्त होता है तो उसकी शारीरिक – मानसिक क्रियाशीलता कम हो जाती है व हमारे क्रियाकलापों में स्वाभाविक ढंग से विलम्बित लय का प्रवेश हो जाता है। मध्यलय सामान्य या साध ाारण अवस्था की सूचक है एवं द्रुतलय, चंचलता, चपलता, क्रोध, भय इत्यादि भावों को उदीप्त करने में सहायक है।

'विष्णु धर्मोत्तर उपपुराण' में रसों की दृष्टि से लय का विभाजन इस प्रकार है– हास्य और श्रृंगार में मध्यलय, वीभत्स और भयानक में विलम्बित लय तथा वीर, रौद्र और अद्भुत में द्रुत लय। मानसिक विकारों के उपचार के लिए संगीत– चिकित्सा बहुत उपयोगी हो सकती है।

विदेशों में विगत कई वर्षो से मानसिक रोगीयों के लिए मानसिक चिकित्सालयों में संगीत द्वारा मानसिक रोगों के उपचार का प्रचार दिन– प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है।

भारतीय संगीत अपने विशिष्ठ गुणों के कारण इस प्रकार की चिकित्सा में और भी अधि ाक प्रभावशाली है।

तालकी लय जाति के साथ–साथ उनके बोलों की भी विशेष भूमिका है, भावनानुकूलता के अनुसार लघु वर्ण, दीर्घ वर्ण, एकाक्षरी, द्वयक्षरी खुले व बन्द बोलों के प्रयोग विभिन्न लयों व जातियों के साथ मिलकर किसी भाव को रस – परिपाक तक ले जाने में सहायक होते है। जैसे क्रोध के भाव को उदीप्त करने में जोरदार खुली थाप अथवा (घिरघिर–घुमकिट) जैसे भारी भरकम वर्णो का प्रयोग सहायक होगा। इसी प्रकार श्रृंगार रस की चंचलता व रति के भावोद्दीपन– हेतु चाँटी व मैदान पर निकलने वाले लघु वर्ण बन्द व मुलायम तरीके से बजाए जाएं तो यह अत्यन्त उचित होगा।

वर्णो के निकास के साथ ही साथ अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका ताल वाद्ययंत्रों की है जिनमें अवनद्ध– वाद्यों का स्थान प्रमुख है। 'ताल' लय को आकार प्रदान करने व अभिव्यक्ति देने वाली, गत्यात्मक एवं रसात्मक है। संगीत में प्राण– तत्व ध्वनि एवं लय तत्व इसमें नैसर्गिक रूप से विचरते है। ताल ही वह स्वतंत्र सत्ता है जिसकी लयात्मक गति अतः मानव जीवन में मनोवैज्ञानिक स्तर पर स्वतंत्र प्रभाव डालने में सक्षम है।

सन्दर्भ ग्रन्थ –

1. डॉ0 राशि भारद्वाज – लय व ताल का रसाभिव्यक्ति में योगदान।
2. पं0 लालमणि मिश्र – भारतीय संगीत वाद्य
3. डॉ0 जयदेव सिंह – भारतीय संगीत का इतिहास
4. डॉ0 अरुण कुमार सेन – भारतीय तालों का शास्त्रीय विवेचन
5. मधुकर गणेश गोडबोले – तबलाशास्त्र

जैन साधना एवम् पन्च महाव्रत

डॉ० सन्ध्या श्रीवास्तव

अंशकालिक प्रवक्ता, दर्शनशास्त्र विभाग, आर्य महिला पी0जी0 कालेज, वाराणसी

भारतीय धर्म के आचार और विचार दो प्रमुख अंग है। आचार का तात्पर्य आचार संहिता से है और विचार का तात्पर्य दार्शनिक चिन्तन से है। दार्शनिक चिन्तन में दार्शनिकों में मतभेद हुआ करता है, किन्तु आचार संहिता सभी धर्मो में सामान्य है। भारतीय सभी धर्मो की आचार संहिता मौलिक रूप में समान होने पर भी जैन धर्म ने इसको उत्कृष्ट रूप में प्रस्तुत किया है। 'जिन' से ही जैन शब्द बना है जिसका अर्थ है विजेता। जिसने इन्द्रियों और भौतिक प्रवृत्तियों पर विजय प्राप्त कर ली हो वह जीन है। मुख्यतः अन्तिम तीर्थंकर वर्धमान को ही 'जिन' कहा जाता है किन्तु इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने वाला कोई भी जिन कहला सकता है। जैन धर्म या जैन दर्शन नाम ही जैनमत को आचार मूलक सिद्ध करता है।[1] जैन धर्म की विशेषता उसके व्यावहारिक पक्ष के कारण है। यद्यपि अन्य भारतीय दर्शनों के ही समान मुक्ति या कैवल्य ही इस दर्शन का भी लक्ष्य है फिर जैन दर्शन में जैन साधकों ने जीवन के व्यवहारिक पक्ष पर अत्यधिक बल दिया है श्रमण हो चाहे गृहस्थ इस धर्म के अनुसार जीवन में तपश्चर्या अनिवार्य है। सम्पूर्ण जैन साधना सदाचार के उपदेशों से परिपूर्ण है। त्रिरत्न तो जैन साधना का मूल सूत्र है। जीवन में ज्ञान अर्थात् सम्यक् ज्ञान का होना तो अनिवार्य है ही साथ सम्यक् चरित्र का भी होना परमावश्यक है। सम्यक् चरित्र के बिना अर्थात् जीवन के सदाचार पक्ष के बिना ज्ञान किसी काम का नहीं रह जाता इसीलिये कहा जाता है– 'ज्ञान भार' क्रिया बिना।

सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र इन तीनों को त्रिरत्न कहा जाता है। जिस प्रकार रत्न से व्यक्ति विभूषित होता सुन्दर लगता है उसी प्रकार उक्त तीनों गुणों से विभूषित व्यक्ति सर्वांग सुन्दर अर्थात् वाह्यान्तर सुन्दर लगता है। इसलिए इन्हें रत्न कहा गया है। सद्गुणों से ही जीवन में सौन्दर्य बढ़ता है आभूषणों से नहीं। त्रिरत्न जीवन के व्यावहारिक पक्ष को शुद्ध करता हुआ साधक को मोक्ष मार्ग की ओर ले जाता है। इसीलिए आचार्य उमास्वामी ने तत्वार्थ सूत्र में त्रिरत्न को मोक्ष मार्ग कहा है।[2] ये तीनों एक साथ मिलकर एक मार्ग बनाते हैं। इसी कारण तीनों पर एक ही साथ आचरण भी करना चाहिए।[3]

सम्यक् दर्शन का तात्पर्य अर्हतम में सम्यक् आस्था या श्रद्धा से है।[4] अर्हत प्रवचन में स्यक्त्व क्या है इस पर पर्याप्त विवेचन किया गया है। सम्यक्त्व मिथ्यात्व विरोधी है। मिथ्या दर्शन, मिथ्या ज्ञान एवम् मिथ्या चरित्र के विपरित सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान एवं सम्यक् चरित्र है।[5] तत्वरूप अर्थो का श्रद्धान अर्थात् तत्व को तत्व के रूप में एवम् अतत्व को अतत्व के रूप में समझना और उसमें श्रद्धा रखना ही सम्यक् दर्शन है।[6] सम्यक् दर्शन के आठ अंग है––

1. अपने अनुष्ठेय मार्ग में किसी प्रकार की शंका न होना।
2. लौकिक सुख की इच्छा न होना।
3. ग्लानि का अभाव।
4. कुपथ की प्रशंशा न करना।
5. सद्गुणों की अभिव्यक्ति के लिए प्रयास करना।
6. स्वयं की तथा अन्यों की सन्मार्ग से बिच्युति को रोकना।
7. अपने सहयोगी तथा धर्म से प्रेम रखना।
8. मद नहीं करना।

सम्यक् दर्शन के बाद सम्यक् ज्ञान रत्न को समझना चाहिए। सम्यक् दर्शन में आस्था की बात कही गई है, सम्यक् ज्ञान में यथार्थता के ज्ञान की बात कही गई है। इस सम्यक् ज्ञान में यथार्थता के ज्ञान की जैन दर्शन के अनुसार पाँच प्रकार के हैं– गति, श्रुत, अवधि, मनः पयर्य और केवल। केवल ज्ञान ही पूर्ण ज्ञान है। अन्य ज्ञान व्यवहार में सम्यक् होने पर भी मुक्ति की दृष्टि से सम्यक् नहीं है क्योंकि केवली को ही वस्तु का सर्वांगीण ज्ञान होता है, अन्य को एक पक्षीय ज्ञान होता है। एक पक्षीय ज्ञान भी जैन दर्शन में मिथ्या ज्ञान नहीं होता किन्तु स्यात् सत्य ज्ञान होता है, अतः गति ज्ञानादि भी सम्यक् ज्ञान की कोटि में आते हैं।

अन्तिम रत्न है– सम्यक् चरित्र। यही रत्न जैन दर्शन में महत्वपूर्ण है। सम्यक् ज्ञान होने पर भी यदि उसे चरित्र में नहीं लाया गया तो वह सम्यक् ज्ञान नहीं कहलायेगा। यदि सम्यक् ज्ञान चरित्र में नहीं ढ़ाला गया तो वह सम्यक् दर्शन को भी सम्यक् दर्शन नहीं रहने देगा। सम्यक् चरित्र का स्थान सबसे अधिक है। यह जैन साधना का सबसे अधिक महत्वपूर्ण अंग है क्योंकि सम्यक् चरित्र से ही साधक कर्म से मुक्त हो सकता है और जीवन के लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।[7] इस प्रकार सम्यक् चरित्र जीवन के व्यावहारिक और आध्यात्मिक दोनों पक्षों को पूर्ण करने में साधन है। व्यावहारिक पक्ष में सम्यक् चरित्र हमारे आचार को मानवता से भी ऊपर उठाकर हमें देवत्व की ओर अग्रसारित करता है।

जैन साधना में ही नहीं सम्यक् चरित्र या उत्तम आचार पर बल भारतीय सभी दर्शन देते हैं। यहीं हमारी दार्शनिक विचारधारा की प्रधान विशेषता है। आचारहीन न पुनन्ति वेदाः। वेदों में भी आचार व विषय पर जोर दिया गया है। सत्यं वद, धर्मचर, ये वेदोपनिषद के उपदेश हैं। सत्य और दान को विशेष महत्व प्राप्त है।[8] वेदोपनिषद की आचार विषयक धारणा को जैन दर्शन ने जीवन्त रखा और उसे अधिक महत्व देने के लिए पन्चमहाव्रत का उपदेश दिया। पन्चमहाव्रतों का विवरण प्रायः वैदिक दर्शन में पाया जाता है किन्तु इसे जीवन में ढालकर दिशा दिखाने का काम जैन तीर्थांकरों एवं आचार्यो ने किया। पन्चमहाव्रत इस प्रकार है –

1. अहिंसा – किसी प्राणी को हानि न पहुँचाना
2. सत्य – झूठ न बोलना
3. अस्तेय – चोरी न करना
4. ब्रह्मचर्य –ब्रह्मचर्य का पालन करना अर्थात् किसी भी प्रकार का मैथुन न करना।

5. अपरिग्रह[9] किसी भी प्रकार की अभिलाषा न रखना। ये महाव्रत श्रमण के लिए विहित है। श्रमण को कठोरता से पाँच महाव्रतों का पालन करना चाहिए। इनमें से किसी प्रकार का छूट श्रमण को नहीं मिल सकती।[10] इसी कारण ये उस अवस्था में महाव्रत न रखकर अणुव्रत हो जाते हैं। अणुव्रत का महत्व कम नहीं है। क्यों कि गृहस्थों की कुछ सीमाएं होती हैं। उन सीमाओं का अतिक्रमण वे नहीं कर सकते। करने पर वे भी श्रमण हो जाएगें, गृहस्थ नहीं।

अहर्त प्रवंचन के विवरण के अनुसार हिंसादि से स्थूल रूप में विरति अणुव्रत और पूर्णरूप से विरति महाव्रत है।[11] अहिंसा की धारणा बहुत ही सूक्ष्म है। अहिंसा का शाब्दिक अर्थ हिंसा का त्याग और हिंसा में मन, वाणी और शरीर तीनो से होने वाली हिंसा शामिल है। अहिंसा से तात्पर्य है कि मनुष्य अन्य प्राणीयों को अल्पमत हानि भी न पहुँचाये। अहिंसा को एक निषेधात्मक आर्दश ही नही माना गया है, अपितु उससे भी अधिक अहिंसा का अर्थ है। जैन धर्म के अनुसार अहिंसा का अर्थ स्वीकारात्मक भी है।

अहिंसा की धारणा वेदो पनिषद् और स्मृति ग्रन्थों एवं वैदिक दर्शनों में भी पाई जाती है। वेद में मा हिंसायात सर्वाभूतानि एवं योग दर्शन में'' अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्संविधौ वैरत्यागः ''आदि वचन अहिंसा के विवरण में पाये जाते है। योग दर्शन में तो अंहिसा की उस स्थिति का विवरण दिया गया है जहाँ हिंसक पशु भी अहिंसक के प्रति वैर भाव त्याग देता है। इस लिये यह कहा जा सकता है कि अहिंसा का सिद्धान्त बहुत प्राचीन समय से चला आ रहा है। जैन तीर्थकर और आचार्यो ने इस सिद्धान्त को अधिक से अधिक व्यवहार में ढ़ालने का प्रयास किया है। क्योंकि साम्प्रदायिक रूप से आज भी जैन श्रावक अहिंसा के उन नियमों का पालन करते दिखाई देते है।[12]

अहिंसा अणु व्रत के विषय में 'अर्हत प्रवचन' में कहा गया है कि जो श्रावक दूसरों को भी अपने ही समान समझता हुआ कोई भी काम दया पूर्वक करता है और अपनी निन्दा तथा गर्हा करता हुआ पाप के कारण महाअपरंभो को नही करता तथा जो मन, वचन और काम से त्रस जीवों का घात न स्वयं करता है न दूसरों से कराता है और न दूसरों की हिंसा के कामों की अनुमोदन करता है उस श्रावक का यह प्रथम श्रेणी का अहिंसाव्रत है।[13]

अहिंसाव्रत के बाद सत्य अर्थात् अन्तत से विरति का व्रत आता है। भारतीय दर्शन में वेदों से लेकर अब तक धार्मिक ग्रन्थों में सत्य की प्रशंसा की जाती रही है। वैदिक ऋषि सत्य के गुण गाते हुए नही थकते।[14] जैनाचार्य उमास्वामी के अनुसार असदभि– धानमन्तत् है अर्थात् असत् बोलना असत्य है। यही सत्य भाषण श्रमण के लिए पूर्णरूपेण पालनीय है। महाभारत में कहाँ गया है कि सत्य ही धर्म है, तप है, योग है, यज्ञ है।[15]

बिना दी हुई वस्तु का लेना स्तेय अर्थात् चोरी है। गृहस्थ श्रावक के लिए अपरिग्रह का पूर्णतया पालन नही हो सकता इसी लिए सीमित अपरिग्रह या संतोष ही उसके लिए विहित है। ब्रह्मचर्य का अर्थ यदि पूर्ण ब्रह्मचर्य लिया जाय तो श्रावक–गृहस्थ के लिए संयम का विधान है। इस प्रकार पंच व्रत तब सीमित अर्थ में माने जाये तब वे अणुव्रत कहलाते है और पूर्ण अर्थ में महाव्रत।

जैन दर्शन के अनुसार जीवन का लक्ष्य पौद्गालिक कर्मबन्धन से छुटकारा

पाना है। अन्य भारतीय दर्शनों के समान जैन दर्शन भी पुनर्जन्म वाद और कर्म सिद्धान्त में विश्वास करता है। जीवन अपने स्वरूप में अनन्तत्रयों से युक्त है। किन्तु पौद्गालिक कर्म संयोग से वह बन्धनयुक्त हो जाता है। बन्धन उसका स्वभाविक धर्म नहीं है। बन्धन ही दुःख का कारण है। बन्धन से मुक्त होने के लिए, केवल ज्ञान प्राप्त करना है, तथा सम्यक् ज्ञान और सम्यक्र चरित्र की परमावश्यकता है। इसी कारण जैन धर्म में साधना पक्ष पर विशेष बल दिया गया है। जीवन का सर्वांगिण विकाश व्यवहारिक जीवन को त्यागकर नहीं अपितु उसे भी पूर्णता की ओर ले जाते हुए सम्भव है, अतः अहिंसादि महाव्रतों का जैन साधना में व्यावहारिकता की दृष्टि से बहुत ही महत्व है, आध्यात्मिक दृष्टि से तो है ही। जैन दर्शन कर्म सिद्धान्त को मानकर सृष्टि और पुर्नजन्म की व्याख्या देता है। जैन दार्शनिक ईश्वर की स्थापना की आवश्यकता नहीं मानते क्योंकि उनके अनुसार ईश्वर–वादी का ईश्वर भी कर्मानुकुल फल ही दे सकेगा अन्यथा कर्मफल का सिद्धान्त ही नहीं टिक सकता। जैन दार्शनिक आचार मीमांसा में भी किसी ईश्वर जैसी सत्ता को नहीं मानते।[16]

भारतीय दर्शन में वेदों से लेकर अब तक के ग्रन्थों में कही भी सदाचार रहित ईश्वर भक्त को धार्मिक नहीं माना गया है। बल्कि सदाचार युक्त निरिश्वर वादी भी पूज्य रहे है। सदाचार इह–परलोक के लिए साधन है। इसके बिना जीवन पूर्णतया की ओर नहीं बढ़ सकता। यही कारण है कि जैन साधना में सदाचार पर विशेष जोर दिया गया है और पंचमहाव्रतों को व्यवहार में ढालने का प्रयास किया गया है।

संदर्भ –

1. भारतीय दर्शन– प्रथम खण्ड, पृष्ठ 263 राधाकृष्णन
2. भारतीय दर्शन की रूप रेखा पृ0 167 हिरियन्ना
3. तैत्तिरीय उपनिषद 11/1/213
4. सम्यक् दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोदामार्ग : 1 लटवार्थ सूत्र ।
5. भारतीय दर्शन प्रथम खण्ड पृ0 298 (उमा सवमी)
6. भारतीय दर्शन की रूप रेखा पृष्ठ 167, राधाकृष्णन, हिरियन्ना
7. अर्हत प्रवचन, अध्याय – 5
8. तत्वार्थ श्रद्धा सम्यक् दर्शनम् (तत्व 2)
9. तत्वार्थ सूत्र –उमा स्वामी
10. देश सर्व तोणुमहती। तत्वार्थ सूत्र 7/2 उमा स्वामी
11. अर्हत प्रवचन, 69
12. तत्वार्थ सूत्र , 7/13 उमास्वामी
13. अर्हत प्रवचन , 69
14. तत्वार्थ सूत्र 7/14 उमा स्वामी
15. अर्हत प्रवचन, 70 पृ0
16. भारतीय दर्शन प्रथम खण्ड–299 राधाकृष्णन

पूर्व मध्यकालीन भारत में स्त्री सम्मान : सुरक्षा और सरोकार के सन्दर्भ में

सुश्री अंजना वर्मा

असिस्टेंट प्रोफेसर, इतिहास विभाग, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी

भारतीय सामाजिक व्यवस्था में स्त्रियों का स्थान महत्वपूर्ण रहा है। हिंदू समाज में उनका सम्मान और आदर प्राचीन काल में आदर्शात्मक और मर्यादायुक्त था, उनकी अवस्था पुरूषों के सदष्श थी। उनके प्रति समाज की स्वाभाविक निष्ठा और श्रद्धा रही है। परिवार और समुदाय में उनके द्वारा किये जाने वाले योगदान का सर्वदा महत्व और गौरव रहा है। भारतीय धर्मशास्त्र में नारी सर्व–शक्ति सम्पन्ना मानी गयी तथा विद्या, शील, यश आदि की प्रतीक समझी गयी। शनैः–शनैः समाज में उसका महत्व इतना अधिक बढ़ा कि उसके बिना अकेला पुरूष अपूर्ण और अधूरा समझा गया, पुरूष शब्द की निर्मिति स्त्री, सन्तान और व्यक्ति की समष्टि से मानी गयी।

स्त्रियों की दशा में युग के अनुरूप परिवर्तन होता रहा है। उनकी स्थिति में वैदिक युग से लेकर पूर्व मध्ययुग तक अनेक उतार चढ़ाव आते रहे है तथा उनके अधिकारों में तद्नुरूप परिवर्तन होता रहा। पूर्व काल की तुलना में परवर्ती काल से उनकी स्थिति में परिवर्तन प्रारंभ हो गया जो अवनति के रूप में बाद के समयो तक चलता रहा। पुरूषों की तुलना में स्त्रियों को समाज में निम्न स्थान ही प्राप्त हुआ जिसके प्रमुख कारण राजनीतिक अस्थिरता और सामाजिक संकीर्णता ही थे। कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने स्त्रियों में ऐसे जन्मजात दोष माने जिनके कारण वे पुरूषों की तुलना में हीन रही, साथ ही यह मत व्यक्त किया गया कि उनमें न्याय की भावना अत्यल्प होती है क्योंकि उनमें ईर्ष्या की मात्रा अधिक होती है[1], किन्तु भारतीय समाज में इस प्रकार की कोई भ्रांति नहीं।

प्रस्तुत लेख में पूर्वमध्यकालीन भारत में स्त्रियों के सम्मान और सुरक्षा के सन्दर्भ को समझने और प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। साथ ही किसी भी काल के सांस्कषतिक विकास को समझने के लिए तत्तकालीन समाज में स्त्रियों की स्थिति से पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

इस काल में स्त्रियों पर नियत्रंण और कठोर हो गये। धर्म और समाज की रक्षा के नाम पर स्त्रियों को सुरक्षित रखने के लिए ऐसी व्यवस्थाओं का नियमन हुआ जिनसे स्त्रियों की दशा निरंतर दयनीय हुयी। अब पुत्री की स्थिति परिवार में पुत्र की अपेछा गिर गयी और स्मृतिकार साधारणतया यौवनारंभ से पूर्व विवाह करने के पक्ष में थे। इस समय विधवाओं का जीवन नरकीय हो गया एवं विधवा विवाह निषेध हो गया। कुछ स्मृतिकार विधवाओं के सती होने के पक्ष में थे किन्तु यह प्रथा सिर्फ उत्तर भारत के राजकीय घरानों

तक सीमित थी। नारी शिक्षा का प्रसार सिर्फ अभिजात वर्ग तक सीमित रहा। गाथा सप्तशती में रेखा, रोहा, माधवी, शशिप्रथा आकि विदुषी स्त्रियों का उल्लेख मिलता है।[2] साथ ही शासन कार्य में दक्ष कश्मीर की सुगंधा और दिद्दा रानियों का उल्लेख मिलता है।[3] उड़ीसा में जब ललिता भरण देव और उसके पुत्र की मृत्यु हो गयी तो सामंतो ने राजा की विधवा रानी को शासक चुना। पूर्वमध्य युगीन भाष्यकार और शास्त्रकारो ने स्त्री के सम्पत्ति विषयक अधिकारों को स्वीकार किया है।

जब देश और समाज विदेशी आक्रामकों से आक्रान्त होने लगा और भारतीय स्त्रियों के लिए सुरक्षा का प्रश्न महत्वपूर्ण हो गया तब समाज में पर्दा प्रथा और अपने सतीत्व की रक्षा के लिए स्त्रियां सती हो गयी। मुसलमानों द्वारा अपहृत स्त्रियों के लिए समाज में कोई स्थान न रहा।

इन सिद्धान्तों के साथ ही समाज में स्त्रियों की सुरक्षा के पर्याप्त नियम बनाये गये थे। पति द्वारा प्रताड़ित होने पर पत्नी राजा के द्वारा कानूनी कार्यवाही करके उसके अत्याचारों का प्रतिकार कर सकती थी।[4] पत्नी के भरण पोषण का पूरा उत्तरदायित्व पति पर समझा जाता था। मत्स्य पुराण में स्त्रियों के अधिकारों का विवेचन हुआ है।[5] स्त्रियों की सुरक्षा का उत्तर दायित्व परिवार और समुदाय पर था। जन्म से मृत्यु तक वे कन्या, पत्नी और माता जैसी स्थितियों में क्रमशः पिता, पति व पुत्र द्वारा संरक्षित मानी गयी।[6] निश्चय ही ये प्रतिबंध उनकी पवित्रता और सुरक्षा को ध्यान में रखकर आरोपित किये गये थे। कुछ शास्त्रकारों ने प्रोषितपतिका के लिए शास्त्रीय और धर्म के आधार पर पुनर्विवाह की अनुमति प्रदान करना निश्चय ही उसके मनोवैज्ञानिक और जैविक अपेक्षाओं को स्वीकार करना तथा सामाजिक स्तर को बनाये रखना भी था।

वर्तमान समय में स्त्री और पुरूषों को समान अधिकार प्राप्त है। हमारे संविधान में स्वतंत्रता, समानता और जीने के अधिकारों तथा अनुच्छेद 1, 15 व 21 स्त्रियों के अधिकारो से संबंधित है। साथ ही महिलाओं के सशक्तिकरण के क्रम में पंचायती में महिलाओं की भागीदारी 1/3 से बढ़ाकर 50 प्रतिशत कर दी गयी है। 1997 में कार्यस्थल पर होने वाली हिंसा के लिए दिशा निर्देश 'विशाखा' के नाम से जारी किये गये। इसी को सख्त रूप देते हुए इसे कानून बनाने की कोशिश चल रही है। कई संगठन भी इस कानून के लिए काम कर रहे है। अभी कुछ समय पूर्व ही भारत–नेपाल सीमावर्ती क्षेत्र नानपारा में कार्यशाला का आयोजन किया गया, जिसमें महिलाओं के सशक्तीकरण के लिए चेतना यात्रा शुरू की गयी।

उपर्युक्त व्यापक व्यवस्थाओं के होते हुए भी प्राचीन और वर्तमान में भी महिलाये अपने को असुरक्षित महसूस कर रही है। महिलाओं में घर हो या बाहर असुरक्षा की भावना बढ़ती जा रही है। इसकी रोकथाम महिलाओं में आत्मविश्वास बढ़ाने से होगी। शिक्षित और जागरूक होने पर ही महिलाओं का उत्पीड़न रूकेगा तथा महिलाओं के मान–सम्मान और स्वाभिमान की रक्षा हो सकेगी। जैसा की वर्ष 1948 में डॉ राधाकष्णन् ने कहा था,

"स्त्रियों को शिक्षित किये बिना शिक्षित समाज की कल्पना नहीं की जा सकती है।" उनके सम्मान में जैसा कि मनुस्मषति में कहा गया है –

यत्र नार्यस्तु पूज्यते रमन्ते तत्र देवता।

यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रिया।।

अर्थात् जिस कुल में स्त्रियों की पूजा होती है, उस कुल पर देवता प्रसन्न होते है और जिस कुल में इनकी पूजा नहीं होती उस कुल में सब कर्म निष्फल होते है। वस्तुतः वह समाज में 'देवी' और 'श्री' के रूप में सम्भानित थी और रहेगी।

सन्दर्भ

मूल ग्रन्थ

1. फ्रायड, इण्ट्रोडक्टरी लेवचर्स आन साइको – ऐनौलिसिस, पष0 134।
2. गाथासप्तशती, 1.87, 90, 63, 74, 76.
3. राजतरंगिणी, 7.905–9, 931.
4. मेधातिथि टीका, मनु0 9, 1.
5. मत्स्य पुराण, 70, 28 आदि, 288, 144 आदि।
6. मनु, 9.3 पिता रक्षति कौमारे, भर्ता रक्षति यौवने।
   रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्रयमर्हति।।

द्वितीय स्रोत –

1. मिश्र जयशंकर – प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पष0 401–437.
2. थापर, रोमिला – प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, नई दिल्ली 1970.
3. अल्तेकर, ए0 एस0– द पोजीशन ऑफ वूमेन इन ऐशिएंट इंडिया।
4. मुखर्जी, आर0 के0 – एशिएंट इण्डियन एजूकेशन, लंदन 1950।
5. काणे, पी0 वी0 – धर्मशास्त्र का इतिहास, (खण्ड द्वितीय)

कमइ

सांख्य दर्शन एवं चरक संहिता में मन की अवधारणा

डॉ0 सीमा सिंह

अतिथि व्याख्याता, दर्शनशास्त्र

प्राचीन भारतीय साहित्य का प्रधान स्रोत वेद है। ज्ञान विज्ञान की समस्त शाखाओं के जो प्राचीन ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, वे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से वेद अथवा वैदिक साहित्य में अपने बीज स्वीकार करते हैं। यही कारण है कि वैदिक साहित्य का क्षेत्र अत्यन्त विशाल और विविध है। तत्वमीमांसा का सर्वोच्च बिन्दु आत्मतत्व है और अत्यन्त व्यावहारिक बिन्दु में मन की गणना होती है। ये प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध माने जाते हैं। सभी वैदिक शास्त्र आदि और अन्त के इन बिन्दुओं की व्याख्या को अपनी–अपनी आवश्यकतानुसार पृष्ठभूमि में रखते हैं। सांख्य दर्शन और चरक संहिता भी ऐसे ही शास्त्र हैं। आयुर्वेद की पृष्ठभूमि दार्शनिक सिद्धांतों पर अवलम्बित है क्योंकि आयुर्वेद के संहिता ग्रन्थ ऐसे काल की देन हैं, जब दर्शनों ने भारत में प्रचलित तत्कालीन समस्त विध ाओं को प्रभावित किया था। अतः वैदिक काल में दर्शन और आयुर्वेद का विकास समान रूपेण होने से तथा दोनों शास्त्रों का समान ज्ञान अर्जित करने वाले ऋषियों द्वारा इनकी रचना किए जाने से दर्शन तथा दार्शनिक विचारों का पर्याप्त प्रभाव आयुर्वेद पर पड़ा। षड्दर्शनों में विशेष रूप से सांख्य दर्शन का आयुर्वेद के साथ घनिष्ठतम सम्बन्ध है। चरक संहिता के आद्युपदेष्टा संस्कर्ता एवं सम्पूरकों ने अपने दार्शनिक पक्ष की पुरिपुष्टि के लिए सांख्य दर्शन को प्रमुख आधार बनाया, परन्तु उन्होंने सांख्य मतों को उनके मूल रूप में ग्रहण न कर आयुर्वेद की विशिष्ट आवश्यताओं के अनुरूप उनको रूपान्तरित किया है।

1. सांख्य दर्शन एवं चरक संहिता की प्राचीनता :–

महाभारत में सांख्य दर्शन का उल्लेख जिस प्रकार हुआ है, उससे ऐसा प्रतीत होता है कि महाभारतकाल में इस दर्शन का व्यापक प्रभाव था। उपनिषदों में विशेष रूप से परवर्ती उपनिषदों में सांख्य का उल्लेख है। कठोपनिषद्[1] में प्रयुक्त अव्यक्त, व्यक्त, महत् आदि शब्द तथा श्वेताश्वर उपनिषद्[2] में प्रयुक्त 'सांख्य', 'कपिल' आदि शब्द निश्चय ही सांख्य दर्शन से सम्बद्ध है और इन उपनिषदों से पूर्व ही सांख्य दर्शन एक स्वतन्त्र शास्त्र का रूप हो चुका होगा। बृहदारण्यक तथा छान्दोग्य जैसे प्राचीन उपनिषदों में भी सांख्य के मौलिक सिद्धान्तों के संकेत मिलते हैं। स्पष्ट है कि सांख्यशास्त्र और उसके उद्भवक का काल अत्यन्त प्राचीन तथा प्राचीन उपनिषदों के सन्धिकाल में होना चाहिए।[3] अश्वघोष ने 'बुद्धचरित' के बाहरवें सर्ग में बुद्ध को अराड द्वारा सांख्य की शिक्षा दिये जाने का उल्लेख किया है और बौद्ध दर्शन मूलतः सांख्य सिद्धान्त का एक रूप भाग था।[4] अतः सांख्य दर्शन का बुद्ध (छठीं शता0 ई0 पू0) से प्राचीन होना निर्विवाद है। उदयवीर शास्त्री सांख्यदर्शन के उद्भव कपिल के काल को सतयुग का अन्तिम चरण या त्रेतायुग का प्रारम्भ स्वीकार करते हैं तथा अपने मत की पुष्टि के लिए विष्णुपुराण को

उद्धृत भी करते हैं।[5]

चरक संहिता आयुर्वेद का सर्वोच्च आकर ग्रन्थ माना जाता है, विशेषतः कायचिकित्सा का यह प्रधान उपजीव्य ग्रन्थ है। अतः यह स्वाभाविक है कि ऐसी महत्वपूर्ण रचना पर चिरकाल से विद्वत्समाज में चर्चा चलती आ रही है तथा समय–समय पर अनेक विद्वानों ने अपने बहुमूल्य विचार इसके विभिन्न पक्षों पर व्यक्त किए हैं। मध्यकाल में आयुर्वेद के आचार्यों ने इसी संहिता को केन्द्र बनाकर व्याख्या के रूप में अपनी मान्यताओं का प्रकाशन किया है। चरक संहिता में वैशेषिक दर्शन तथा योगदर्शन के स्पष्ट उल्लेख के साथ ही सांख्य का भी सन्दर्भ प्राप्त होता है। इससे स्पष्ट है कि चरक संहिता के पूर्व सांख्य एक प्रतिष्ठित दार्शनिक सम्प्रदाय था। सांख्य अत्यन्त प्राचीन दर्शन है। अतः वर्तमान में ईश्वरकृष्ण आदि के जो ग्रन्थ प्राप्त होते हैं उनसे भी पूर्व सांख्य का जो स्वरूप था, उसका प्रभाव चरक संहिता में दिखाई देता है। अर्थात् चरक संहिता में उल्लिखित सांख्य ईश्वरकृष्ण से पूर्ववर्ती सांख्य है। चरक के ''सांख्यैराद्यैः प्रकीर्तितः'' (च0 सू0 25/15) इस कथन से प्रतीत होता है कि सांख्य आद्य या मौलिक्यसांख्य है जो कि ईश्वरकृष्ण से पूर्व प्रचलित था जिसका निर्देश अन्य कई ग्रन्थों में मिलता है।[6]

2. सांख्य में वर्णित मन :–

सृष्टि संरचना में मनुष्य के शरीर की जो बनावट है, उसके दो स्तर कहे जाते हैं। एक इसका स्थूल शरीर और दूसरा इसका सूक्ष्म स्वरूप। स्थूल शरीर में पांच कर्मेन्द्रियाँ, पांच ज्ञानेन्द्रियाँ और एक मन की गणना की जाती है। सूक्ष्म शरीर में बुद्धि, चित्त, मन और अहंकार सम्मिलित है। दर्शन की भाषा में सूक्ष्म शरीर के इन चारों तत्वों को मिलाकर अन्तःकरण चतुष्ट्य भी कहा जाता है। मन दोनों शरीरों में परिगणित है अर्थात् यह स्थूल शरीर में दस इन्द्रियों के साथ रहने पर एकादशेन्द्रिय के रूप में गिना जाता है और सूक्ष्म शरीर में यह अन्तःकरण चतुष्ट्य का एक अंग होता है। न्यायवैशेषिक दर्शन में जीवात्मा और उसके गुणों (सुख–दुःखादि) को प्रत्यक्ष करने वाले आभ्यन्तरिक या अन्तरिन्द्रिय साधन को मन कहा गया है। यह परमाणु रूप है। अतः दृष्टिगोचर नहीं हो सकता है। परन्तु सांख्यदर्शन में मन को सूक्ष्म एवं सावयव माना गया है। यह एक ही साथ भिन्न–भिन्न इन्द्रियों के साथ संयुक्त हो सकता है। मन उभयेन्द्रिय है क्योंकि मन से ही संयुक्त होकर चक्षु इत्यादि ज्ञानेन्द्रियां तथा वाक् इत्यादि कर्मेन्द्रियां अपने–अपने विषय में प्रवृत्त होती है। मन ही ज्ञान का आधार है क्योंकि इन्द्रियों द्वारा जो विकल्परहित या निर्विकल्पक ज्ञान होता है मन ही उसे विशेष विकल्पों (सविकल्प) से युक्त करता है।[7]

(अ) मन की उत्पत्ति :– द्वैतवादी सांख्य की तत्वमीमांसा में प्रकृति से जन्म लेने वाली विकृतियों में बुद्धि (महत्) के पश्चात् प्रधान स्थान मन का है जिसकी व्याख्या इस प्रकार है– सांख्य में पंचविंशति तत्वों का अंगीकार किया गया है। ये हैं– (1) प्रकृति,(2)

विकृति,(3) प्रकृति–विकृति उभयात्मक तथा (4) प्रकृति–विकृति अनुभयात्मक। इस प्रकार सांख्यशास्त्र में संक्षेप में इन पूर्वोक्त चार प्रकार के पदार्थों का अंगीकार किया गया है। इन चार पदार्थों का विशद् रूप पंचविंशति तत्व है जिनका अवान्तर रूप कारण, कार्य तथा कार्य–कारण उभयात्मक होता है तथा जो न कारण हो और न कार्य हो, ऐसा अनुभयात्मक रूप वाला होता है।

सांख्य ने प्रकृति को इस चराचर विश्व के कारण के रूप में स्वीकार किया है।

(ब) मन का लक्षण :– मन अपने कुटुम्ब (इन्द्रियवर्ग) का सहायक मात्र नहीं अपितु उसका भी लक्ष्य है, अपना व्यापार है जिस प्रकार श्रोतादि ज्ञानेन्द्रियों का शब्दादि व्यापार है तथा वागादि कर्मेन्द्रियों का वचनादि व्यापार है, उसी प्रकार मन 'संकल्पात्मक' व्यापार वाला है। यह ऐसा है और 'यह ऐसा नहीं है' इस प्रकार संकल्प–विकल्प करना मन का काम है। व्यापार शब्द का अर्थ 'वृत्ति' है। वृत्ति परिणामात्मिका होती है। 'संकल्पात्मक' व्यापार से मनस् तत्व का परिज्ञान होता है, इसलिए 'संकल्प' को मन का लक्षण (ज्ञापक चिन्ह) कहा गया है। एक शब्द में जो जिसकी वृत्ति है, वहीं उसका ''लक्षण'' समझा जाता है।

(स) मन का स्वरूप :– सांख्य में मन को उभयेन्द्रिय माना गया है क्योंकि यह ज्ञान कराने और कर्म करने दोनों में सहायक होता है। मन की प्रवृत्ति उभयमुख होने के कारण इसे उभयेन्द्रिय की संज्ञा दी गई है। मन की सहायता के बिना न तो ज्ञानेन्द्रियां ही अपने विषय का ग्रहण कर सकती हैं और न कर्मेन्द्रियां ही किसी कर्म को करने में समर्थ होती है। मन की प्रवृत्ति ज्ञान और कर्म के अतिरिक्त नहीं है। यद्धपि उसके अधीन अनेक क्रोधा, मान, माया, लोभ, शोक, करण आदि भाव होते हैं, तथापि इन्द्रियत्व की दृष्टि से वे भाव मन के विषय नहीं है। मन केवल ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों का प्रेरक होने से उभयेन्द्रिय माना गया है। इसके अतिरिक्त दस इन्द्रियों की अपेक्षा मन में विशेषता रहती है। अतः इसे सामान्य इन्द्रियों में परिगणित न कर उभयेन्द्रिय रूप से इसका अस्तित्व स्वीकार किया गया है।

सांख्यप्रवचनभाष्य में मन को उभयेन्द्रिय (2/26) अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय–कर्मेन्द्रिय कहा गया है जो (मन) दोनों प्रकार की इद्रियों को उनके विषयों में प्रेरित करता है। सांख्यकारिका[8] एवं तत्वकौमुदी[9] में भी मन को उभ्यात्मक ही कहा गया है। ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय के बीच में मन उभयात्मक है, ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों के साथ इसका सम्पर्क रहता है, क्योंकि कोई भी इन्द्रिय मन के सहयोग के बिना अपने विषय में प्रवृत्त नहीं होती।

3. चरक में वर्णित मन :–

चरक संहिता प्रधानतः चिकित्साशास्त्र का ग्रन्थ है। उसमें शरीर तथा मन को पूर्ण स्वस्थ रखने के लिए दार्शनिक दृष्टि से विचार किया गया है। मानव शरीर में मन की स्थिति,

उपयोगिता एवं महत्व विशेष है। मनुष्य की समस्त इन्द्रियों का एक बार यदि विनाश भी हो जाए परन्तु मन अविकृत रूप से स्थित हो तो उस व्यक्ति का कार्य चल सकता है, क्योंकि इन्द्रियां स्वस्थ एवं प्राकृत हो और मन विकृत हो तो उसकी समस्त क्रियाएँ एवं इन्द्रिय व्यापार अवरूद्ध हो जाएगा। वह व्यक्ति किसी भी कार्य को करने में असमर्थ रहेगा। अतः इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि मानव शरीर में मन का महत्वपूर्ण स्थान है।

(1) मन के पर्याय :– चरक संहिता में मन के अर्थ में मन के अतिरिक्त सत्व शब्द का प्रयोग हुआ है। यह इन्द्रियों से श्रेष्ठ है। अतः इसे अतीन्द्रिय कहा गया है। चरक ने एकीय मत के माध्यम से अतीन्द्रिय, सत्व और चेतन् ये तीन पर्याय मन के बताए हैं।[10] मन को चरकादि संहिता ग्रन्थों में छठीं इन्द्रिय के रूप में माना है क्योंकि यह भी अन्य चक्षुादि इन्द्रियों की भांति सुख–दुःख आदि का अनुभव करता है, परन्तु यह चक्षुः आदि का अधिष्ठाता होने के कारण अतीद्रिय है अथवा सभी इन्द्रियां स्थूल है और मन सूक्ष्मतर होने के कारा अतीन्द्रिय है अथवा सभी इन्द्रियां अपने–अपने विषयों को ग्रहण करने का सामर्थ्य रखती है और यह संपूर्ण विषयों को ग्रहण करता है, इसलिए भी इसको अतीन्द्रिय कहते हैं।

(2) मन की उत्पत्ति :– चरक ने मन को, अन्य द्रव्य की भांति भौतिक तत्व माना है। अंतिम कारण प्रकृति होने से उसके तीन गुण सत्व, रजस् और तमस् मन में भी होते हैं जिनमें से रजस् और तमस् को इसका दोष माना जाता है। इन तीनों मानसिक गुणों के अनुरूप ज्ञान, प्रवृत्ति, अज्ञान आदि कार्य प्रत्येक मन में दृष्टिगोचर होते हैं। प्रत्येक मन में सामान्यतः अन्य गुणों के अनुरूप कभी–कभी कार्य होते हुए भी अधिकता एक–एक गुण की होती है और उन्हीं के अनुरूप कर्म दृष्टिगत होते है। इस अधिक गुण के कारण ही मन तथा उसके अधिष्ठाता पुरुष को सात्विक रजस् एवं तमस् कहा जाता है। जिस प्रकार शरीर रोग के कारण वात, पित्त एवं कफ है वैसे ही मानस रोगों के कारण रजस् और तमस् है। इन्हें मानस दोष कहा जाता है। सत्व गुण के उदय से मन दोषरहित और मानस रोग से मुक्त हो जाता है।

चरक में मन को अतीन्द्रिय कहा गया है, क्योंकि इन्द्रियों के अपने–अपने नियत कर्म होते हैं और मन का कोई विषय नियत नहीं है, यह उभयविध इन्द्रियों का प्रयोजक होते हुए भी स्वयं दोनों से अतिरिक्त है। दूसरा कारण है कि आयुर्वेद में इन्द्रियों को पांचभौतिक स्वीकार किया गया है और इनके अतिरिक्त 'मन' अतीन्द्रिय है।

(3) मन का लक्षण :– चरक संहिता में एक साथ ज्ञान का न होना अर्थात् अभाव और ज्ञान का होना (भाव) मन का लक्षण कहा गया है। आत्मा इन्द्रिय तथा इन्द्रियों के अपने–अपने अर्थों (विषयों) का जब मन के साथ संयोग होता है तब ज्ञान होता है और आत्मा, इन्द्रिय तथा इन्द्रियों के अर्थों का जब मन के साथ संयोग नहीं होता है तब ज्ञान का अभाव होता है।[11] इस प्रकार ज्ञान का होना अथवा न होना मन का लक्षण है।

यदि मन का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जाए तो स्थिति यह होती है कि व्यापक होने के कारण आत्मा का इन्दियों के साथ संयोग बना रहता है। इन्द्रियां भी अपने–अपने विषयों के साथ सदैव संयुक्त रहती है। अतः इन्द्रियों को हमेशा ज्ञानोत्पत्ति होते रहना चाहिए। इसके अतिरिक्त आत्मा समस्त इन्द्रियों के साथ एक साथ ही संयुक्त रहता है। अतः समस्त इन्द्रियों को ज्ञान भी एक साथ संयुक्त रूप से ही होना चाहिए। किन्तु व्यावहारिक रूप से ऐसा नहीं देखा जाता। इससे सिद्ध होता है कि ज्ञानोत्पत्ति की प्रक्रिया में कोई ऐसा महत्वपूर्ण द्रव्य अवश्य है, जिसके बिना ज्ञान नहीं होता तथा जिसके रहने पर ज्ञान होता है। वह महत्वपूर्ण द्रव्य 'मन' है।

(4) मन का स्वरूप :– मन को उभयात्मक माना गया है क्योंकि मन के अधीन होकर ही इन्द्रियां विषयों को ग्रहण करने में समर्थ होती है। अर्थात् एकादश इन्द्रियों के मध्य में मन उभयात्मक है क्योंकि चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियां और वाक् आदि कर्मेन्द्रियां मनोवृत्ति से संयुक्त होने पर ही अपने–अपने विषयों को ग्रहण करने में समर्थ होती है। मन वस्तुतः लोचदार इन्द्रिय है क्योंकि यह ज्ञानेन्द्रिय के साथ कार्य करने से ज्ञानेन्द्रिय का रूप धारण कर लेता है और कर्मेन्द्रिय के साथ कार्य करते समय वह कर्मेन्द्रिय के समान हो जाता है।

(5) मन के गुण :– मन के दो गुण माने गये हैं, (1) अणुता तथा (2) एकता।[12] यदि मन को आत्मा के समान सर्वव्यापक एवं सब इन्द्रियों के साथ सर्वथा संयुक्त माने अथवा इन्द्रियों के समान संख्या की दृष्टि से अनेक मानें तो स्थिति यह होगी कि एक ही समय में एक साथ मन को पांचों विषयों का ज्ञान होना चाहिए। परन्तु प्रत्यक्ष में ऐसा दिखाई नहीं पड़ता।

(6) मन का अतियोगादि :– मन का अर्थ चिन्त्य है। इनमें मन और मन की बुद्धि (अर्थ) इन दोनों का समान योग प्रकृति (स्वस्थावस्था) का कारण है। इन दोनों का अतियोग, अयोग और मिथ्यारोग विकृत (रोगोत्पत्ति) का कारण होता है। इस कारण मन के साथ सभी इन्द्रियां स्वाभाविक रूप में सम्बद्ध रहें तथा उनमें कोई विकृत न हो, इसका प्रयास विभिन्न हेतुओं से करना चाहिए। जैसे सात्म्य इन्द्रियार्थों के संयोग द्वारा बुद्धि से सम्यक विचार कर कार्यों को उचित रूप में करना और देश, काल, आत्मा (प्रकृति) के विपरीत गुणों का सेवन करना।

(7) मन का विषय :– चिन्त्य, विचार्य, ऊह्य, ध्येय, संकल्प तथा अन्य जो भी मन से ज्ञेय हैं, वे सब मन के विषय कहलाते हैं[13] जो कुछ सोचा जाए वह चिन्त्य, जो कुछ गुण या दोष की दृष्टि से विचारा जाए वह विचार्य, जो कुछ युक्ति द्वारा तर्कणा की जाए वह ऊह्य (वितर्क) जिसका ध्यान किया जाए वह ध्येय तथा जिससे कर्तव्या–कर्तव्य की कल्पना का निश्चय किया जाए उसे संकल्प कहते हैं।

मन द्वारा चिन्तन आदि जो कार्य होते हैं, वे अन्ततः ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों द्वारा ही अभिव्यक्त होते हैं, न कि स्वतंत्र रूप से। जैसे मन पठन की चिन्ता करता है

तो उस विषय का सम्पादन मुख द्वारा ही होगा और यदि मन गमन का विचार करता है तो इसका निर्वाह पैरों से होगा दूसरी इन्द्रियों से नहीं, इसी प्रकार अन्य विषयों में भी ऐसा ही होता है, अतः मन के विषयों की प्रतीति इन्द्रियों द्वारा ही होती है।

(8) मन के कर्म :– इन्द्रियों को नियंत्रित करना अर्थात् उन्हें हानिकारक विषयों से हटाना, धृति की सहायता से स्वयं अपना निग्रह (नियंत्रण), इन्द्रियों के द्वारा विषयों का प्रत्यक्षीकरण (ऊह) और विकल्प अर्थात् यह वस्तु हितकर और गुणयुक्त होने से ग्राह्य है तथा अहितकर और दोषयुक्त होने से त्याज्य है। इस प्रकार के विचार करना मन के कर्म है।

(9) मन की श्रेष्ठता :– अन्य इन्द्रियों की अपेक्षा मन श्रेष्ठ है। मन इन्द्रियों द्वारा संचालित होकर सब विषयों की ओर जाता है। इन्द्रियां उन विषयों को नहीं देखती, मन ही उन्हें निरन्तर देखता है। चक्षु मन के सहयोग से ही रूप का दर्शन करता है, अपनी शक्ति से नहीं। जिस समय मन व्याकुल रहता है उस समय चक्षु देखता हुआ भी नहीं देख पाता है। भ्रम के कारण ही कहा जाता है कि सम्पूर्ण इन्द्रियां विषयों का दर्शन करती है। इन्द्रियां कुछ नहीं देखती केवल मन ही देखता है। मन विषयों से उपरत हो जाए तो इन्द्रियां भी विषयों से निवृत्त हो जाती है। परन्तु इन्द्रियों के उपरत होने पर मन में उपरति नहीं आती। इस कारण सम्पूर्ण इन्द्रियों में मन ही प्रधान है। मन ही सम्पूर्ण इन्द्रियों का स्वामी कहा जाता है।

(10) मन का स्थान :– अष्टांग हृदय[14] में कहा गया है कि सत्व (मन) आदि का स्थान हृदय है, जो दोनों स्तनों और उरःकोष्ठ (वक्षस्थल) के मध्य में स्थित है। इसी प्रकार चरक संहिता के सूत्रस्थान[15] में कहा गया है कि शरीर के छः अंगों (दो हाथ, दो पैर, मध्य भाग तथा शिरोग्रीवा) का ज्ञान कराने वाली इन्द्रियों (श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना और घ्राण) और उनके पांचों अर्थ (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) सगुण आत्मा और चित्त (मन) ये सब हृदय में अवस्थित रहते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि मन और चेतना का स्थान हृदय है।

4. सांख्य दर्शन एवं चरक संहिता में मन की तुलना :–

सांख्यदर्शन का आयुर्वेद के साथ घनिष्ठतम संबंध है। सांख्य ही एकमात्र ऐसा दर्शन है जिसका उल्लेख नाम निर्देश सहित चरक संहिता में पांच स्थानों पर आता है। दोनों में संज्ञाओं की समानता होने पर भी सांख्य ने एक ही पदार्थ के विषय में जो कुछ भी प्रतिपादित किया है, उसी के सम्बन्ध में चरक ने अपने मूल प्रयोजन को दृष्टिगत रखते हुए अपने मित्र मन्तव्य को भी व्यक्त किया है।

सांख्य ने मनस का आख्यान किया है किन्तु उसका उतना विशद निरूपण नहीं किया जितना चरक ने। चरक ने मन के लक्षण गुण एवं कार्य पर विशेष प्रकाश डाला है। चरक ने मनस को भौतिक माना है जबकि सांख्य इन्हें आहंकारिक मानता है। चरक अणुत्व एवं एकत्व ये दो गुण मन के बताता है। चरक ने मन की श्रेष्ठता, पर्याय एवं महत्व का निरूपण करते हुए उसके अतियोग, अयोग एवं मिथ्यायोग का परिचय दिया है जो

चरक संहिता काएक अपना विशिष्ट योगदान है। इसके अतिरिक्त चरक ने त्रिगुण के आधार पर मानस प्रकृतियों का विस्तार से निरूपण किया है। चरक में चौबीस तत्वों को 'शरीर' की संज्ञा से अभिहित किया गया है। जबकि सांख्य में हम पच्चीस तत्वों के समूह को शरीर कह सकते हैं। चरक ने इन्द्रियों को भी भौतिक ही माना है जबकि सांख्य में इन्हें अहंकारिक माना गया है। इसके अतिरिक्त चरक ने पंचतन्मात्राओं का उल्लेख न कर पंचसूक्ष्मभूत का प्रपितादन किया है। मन शरीर के सम्बन्ध के विषय पर सांख्य में प्रायः उल्लेख कम ही है क्योंकि इसमें सर्वाधिक महत्व विवेक ज्ञान को दिया गया है। और इसी लक्ष्य की प्राप्ति में उसकी उपादेयता स्वीकार की गई है। जबकि चरक संहिता में मन शरीर के सम्बन्ध की विस्तृत व्याख्या मिलती है, शरीर तथा मन किस प्रकार से एक दूसरे को प्रभावित करते हैं इसका रोगोत्पत्ति एवं उसके निदान का भी उल्लेख मिलता है।

निष्कर्ष – भारतीय दर्शनों ने आत्मा–मन–इन्द्रिय और उससे सम्बन्धित विषयों के प्रतिपादन को विशेष महत्व दिया। भारतीय दर्शनों की स्वतंत्र चिन्तन धारा ने अपनी समकालीन विद्याओं को भी पर्याप्त रूप से प्रभावित किया। इसके परिणामस्वरूप आयुर्वेद की दार्शनिक विचारधारा दाशनिक तत्वों एवं दार्शनिक अनुंचितन के प्रभाव से मुक्त नहीं रह सका। तात्पर्य यह है कि लोक और पुरुष के साम्य के आधार पर मानव ने शरीर के अन्दर विद्यमान अनेक रहस्यमय तत्वों की जानने एवं उनका यथावत् दर्शन करने के लिए आयुर्वेद का आश्रय लिया। दर्शन का प्रयोजन केवल चिंतन है जबकि विज्ञान का कार्य विश्लेषण करना है। विज्ञान एक स्थिर सिद्धांत के आधार पर ही विकसित होता है। और उसको यह सिद्धांत दर्शन से प्राप्त होता है। इसी श्रृंखला में सांख्य दर्शन एवं चरक संहिता का घनिष्ठतम सम्बन्ध मन के विषय में प्रदर्शित होता है। दोनों ग्रन्थों में संज्ञाओं की समानता होने पर भी सांख्य ने एक ही पदार्थ के विषय में जो कुछ भी प्रतिपादित किया है उसी के सम्बन्ध में चरक ने अपने मूल प्रयोजन को दृष्टिगत रखते हुए अपने भिन्न मन्तव्य को भी व्यक्त किया है।

चरक ने व्याधि को दुःख और स्वास्थ्य (आरोग्य) को सुख कहा है। आयुर्वेद का मूल प्रयोजन व्याधि को दूर कर धातुओं में समता लाना है और साम्यावस्था ही प्रकृति है, जिसको हम आरोग्य कहते हैं। सांख्य भी दुःखत्रय को आत्यन्तिक एवं अनेकान्तिक रूप से दूर करना चाहता है। इसके अतिरिक्त वह 'सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः' कहता है जबकि आयुर्वेद भी वात–पित्त कफ की साम्यावस्था को प्रकृति या आरोग्य कहता है। आयुर्वेद रजस् एवं तमस् को मानस दोष मानता है। वह शारीरिक व्याधियों के साथ–साथ मानसिक व्याधियों की भी चिकित्सा करता है।

सन्दर्भ :–

1. महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः – कठोपनिषद् 1/3/11,
2. 6/13, 5/2
3. मिश्र, आद्याप्रसाद, सांख्य दर्शन की ऐतिहासिक परम्परा, पृ0 17–18

4. गार्वे अनिरूद्ध वृतिः गार्वे, भूमिका, पृ0 2
5. शास्त्री, उदयवीर, सांख्य दर्शन का इतिहास, पृ0 42
6. ज्ञानं महद् यद्धि महत्सु राजन् वेदेषु सांख्येषु तथैव योग।
   यच्चापि दृष्टं द्विविधं पुराणे सांख्यागतं तन्निखिलं नरेन्द्र।–महा0 शान्ति0 30/108
7. सां0 त0 कौ0, 27
8. उभ्यात्मकमत्र मनः, सां0 का0 27
9. एकादशमिन्द्रियमाह– उभयात्मकमिति, सां0 त0 कौ0, 27
10. अतीन्द्रियं पुनर्मनः सत्वसंज्ञकं चेत इत्याहुरेके। – च0 सू0, 8/4
11. लक्षणं मनसो ज्ञानस्याभावो भाव एव च। सति ह्यात्मेन्द्रियार्थानां सन्निकर्षे न वर्तते। वैवृत्यान्मनसो ज्ञानं सान्निध्यात् तच्च वर्तते। च0 सू0, 1/18
12. अणुत्वमथ चैकत्वं द्वौ गुणौ मनसः स्मृतौ। – च0 शा0, 1/19
13. चिन्त्यं विचार्यमूह्यं च ध्येयं संकल्प्यमेव च।
    यत्किंचिन्मनसो ज्ञेयं तत् सर्व ह्यर्थसंज्ञकम्।। – च0 शा0, 1/20
14. सत्वादिधामहृदयं स्तनोरः कोष्ठमध्यगम्।– अ0ह्व0शा0अ0 4
15. षडंगमंगविज्ञानमिन्द्रियाण्यर्थपंचकम्।
    आत्मा च सगुणश्चेतश्चिन्त्यं च हृदि संश्रितम्।। – च0 सू0 30/4

कमइ

छत्तीसगढ़ की बैगा जनजाति का सामाजिक अध्ययन

सपना बन्द्योपाध्याय

असिस्टेंट प्रो0 बंगला विभाग, आर्य महिला पी0 जी0 कॉलेज, वाराणसी

भारतीय समाज में जनजातियों को विशेष और महत्वपूर्ण स्थान है। भारत की जनजातियाँ विश्व के किसी भी देश से अधिक है। जनजातीय समाज सभ्य समाज के दृष्टिकोण से आज भी पिछड़ी हुई हैं। समाजशास्त्री, नृतत्वशास्त्रियों ने जनजातियों को विभिन्न नामों से सम्बोधित किया है। रिजले, लेके, ग्रिगसन, सोवार्ट, टेलेण्ट्स, सेजनिक, मार्टिन, तथा ए0वी0 थक्कर ने उन्हें आदिवासी (एवारजिंस) नाम से पुकारा है। हटट्न ने इन्हें आदिम जातियाँ (प्रिमिटिव ट्राइव्स) नाम से सम्बोधित किया है। बिन्स ने उन्हें वन्य जाति (जंगल पीपुल, फारेस्ट ट्राइव्स अथवा फोक) नाम से सम्बोधित किया है। प्रसिद्ध समाजशास्त्री डॉ0 ध्ुारये ने उन्हें तथाकथित आदिवासी (सो काल्ड एवारिजिन्स) अथवा पिछड़े हुए हिन्दू नाम दिया है तथा उन्होंने इनके लिए अनुसूचित जनजातियों (शिड्यूल्ड ट्राइव्स) का नाम दिया है।

समाजशास्त्री ललित प्रसाद विद्यार्थी ने जनजातियों को चार भौगोलिक क्षेत्रों मे विभाजित किया है। जिसमें हिमाचल क्षेत्र, मध्य भारतीय क्षेत्र, पश्चिम भारतीय क्षेत्र, दक्षिण भारतीय क्षेत्र हैं। इसमे मध्य भारतीय क्षेत्र में निम्न जनजातियाँ पायी जाती हैं बैगा, संथाल, मुण्डा, उरॉव, हो, भूमिज, लोधा, कोया, खोण्ड, गोण्ड, सोवर, मदवा, कमार, भूईवाँ, कोरकू, हलवा आदि।

इन जनजातियों में बैगा जनजाति छत्तीसगढ़ के कवर्धा, सरगुजा, विलासपुर, राजनाथ गाँव, जिले में निवास करते हैं। ये जनजाति समाज में विशिष्ट पहचान रखती है, साथ ही बैगा जनजाति को सबसे प्राचीन जनजाति माना जाता है।

बैगा जनजाति को सात शाखाओं मे बाँटा गया है जिसमें विठवार, भारोटिया, नारोढ़िया, रायगैना, कठमैना, कोडमान या कुँडी या गोंड़ हैं। ये जनजाति आर्यो के आक्रमण से बचने के लिए पहाड़ो की गुफाओं में निवास करते थे। बैगा जनजाति स्वंय को द्रविड़ वंश का मानते हैं। बैगा जनजाति की गोंड़ जनजाति से सामाजिक एवं धार्मिक रूप से भी समानता दिखाई देती है। इसके सम्बन्ध में इनका एक लोकगीत भी प्रसिद्ध है –

गोड़ ओछाड़ देव धरती पाताल रे।
बैगा ओछाड़ रूखा राइरे।।

बैगा जनजाति स्वभाव से सीधे व शान्ति प्रिय होते हैं इस जनजाति के पुरूष शरीर मे सिर्फ लंगोट धारण करते हैं और बालों को बड़ा रखने की परम्परा है और अपने

साथ ये शिकार करने के लिए धनुष रखते हैं। महिलायें एक ही साड़ी (वस्त्र) पहनती हैं जो बैगा की पानिकार उपजाति बनाती हैं। बैगा जनजाति की महिलायें अपने पति का चुनाव स्वयं ही करती हैं। इस जनजाति में विधवा विवाह का प्रचलन है। यह स्थिति महिलाओं की सम्मानीय स्थिति को दर्शाती है। बैगा जनजाति की महिलायें आभूषण के रूप मे गोदना (शरीर में प्राकृतिक चित्रों को) बनवाती हैं, इससे यह मान्यता है कि यह मृत्यु के पश्चात् नये जीवन मे पहचान का कार्य करता हैं। साथ ही यह किसी चर्म रोग को नही होने देता हैं और दाम्पत्य जीवन के लिए खुशी प्रदान करता है।

बैगा जनजाति मॉस, मोटे अनाज एवम् कंदमूल फल का भोजन करते हैं, साथ ही महुआ के फूल से बनी हुई चटनी इनका प्रिय भोजन हैं। जंगली जानवरों का आखेट, मछली मारना, बैगाओं का प्रिय मनोरंजन है। इनका पहला भोजन ''वासी'', दोपहर का ''पैज'' और रात्रि मे ''वियारी'' होता हैं। इन्हें जंगली जड़ी–बूटियों की विशेष पहचान होती है जिससे ये स्वयं चिकित्सा कर लेते हैं और किसी अन्य स्थान पर चिकित्सा नही कराते हैं। जिससे यह मान्यता है कि अपनी चिकित्सा पद्धति को ये भूल न जायें।

बैगा जनजाति के लोग देवी–देवता के रूप में वाघेश्वरी, दुधिया, अन्नपूर्णा देवी, नर्मदा माई और बूढ़ा देवी की पूजा करते है। साल वृक्ष को ये पूजनीय मानते है, क्योंकि इसमें बड़ा देव का निवास रहता है। साथ ही शेर को ये अपना बड़ा भाई मानते हैं। बैगा जनजाति में पंचायत की मुख्य भूमिका है, जिसमें प्रमुख व्यक्ति को मौकड्दम (प्रधान) कहा जाता है। इसकी अनुपस्थिति में जो कार्य संचालन करता है उसे दीवान कहा जाता है। इसी के साथ पाटन एक पारम्परिक और प्रतिष्ठित पद होता है, कोटना भी एक पद होता है जो कार्य संचालित करता है।

यह जनजाति विशिष्टता के साथ ही शांतिप्रिय जनजाति है, जो प्रकृति प्रेमी होने के साथ ही दुर्गम स्थानों में निवास कर रहे हैं जो अपनी संस्कृति, सभ्यता और परम्परा को आज भी संजोये हुए है, जो आज के विकसित समाज के लिए अद्भुत संदेश है।

संदर्भ ग्रंथ–

1. धूरये, एस0 – दी सेडूल्ड ट्राइब्स, पोपुलर प्रकाशन, बम्बई, 1995।
2. मजूमदार, डी0 एन0 रेसेस एण्ड कल्चरस इन इंडिया, लखनऊ, 1944।
3. विद्यार्थी, एल0पी0–भारतीय आदिवासी, नगरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।
4. उपाध्याय, विजय शंकर एवं शर्मा, विजय प्रकाश–भारत की जनजातीय संस्कृति, 2007।

कमइ

The Atrical (Prop) Erties in Harold Pinter's The Birthday Party

Tuhin Majumdar

Guest Lecturer, Chakada College, West Bengal

Considering in retrospect, playwrights since Marlowe and Shakespeare wrote plays primarily for performance, and not for the purpose of publication. A play acquires significance when its verb form of enacting or playing is taken into account. Its true essence lies in its being staged or visual relished; and not simply read. This paper attempts to adapt Harold Pinter's play *The Birthday Party* to its theatrical properties or counterparts which involve elements like props (already hinted in the title), gestures, settings, lightings, movements, stage directions etc.

The adjective 'Puzzling' best describes Pinter's mindscape. His multi-layered symbolic props, bleak settings, communication through silences and pauses and use of inconsequential repetitive phrases draw a familiar refrain from the critics that what all these means only Pinter knows. And on being asked what his plays were about by J. Russell Taylor, he bewilders us more by asseverating that his plays were about:

"The weasel under the cocktail cabinet" [1]

Harold Pinter's play *The Birthday Party* (written in 1958 and first performed in the Arts Theatre, Cambridge, 28 April 1958, produced by Michael Codron and David Hall) relegates language to the background, which is obviously smoky; and thereby foregrounds the role of props, gestures and stage directions in conveying the leitmotif of the play which traces the conflict between an individual and society in general and an artist and society in particular. Stanley Webber, the pianist is a break-away artist or an imperiled individual whom society or the unnamed mammoth system claims back from an opt-out existence.

The play opens with a stage direction : The living-room of a house in a seaside town (*The Birthday Party*, 9)

Two keywords are 'room' and 'seaside'. Room is imbued with deep significance in Pinter's plays like *The Birthday Party*, *Caretaker* and *The Room*. The room is a private cocoon, and the spirit of bohemian freedom is evinced through the image of the sea—the embodiment of

untamed wild spirit. The room serves as the secret hermitage of a failed artist striving hard to escape humiliation of a hostile world. However, an outsider threatens to disturb the peaceful sanctuary that the seaside room represents.

In the play *The Birthday Party*, Stanley who sticks to Meg and her boarding room or symbolically to the mother and her womb is ultimately brought to the outside world by McCann and Goldberg. In the play *Caretaker*, the fraternal bond developed in the microcosm of a room between Mick and his elder brother Aston was disturbed by an outsider, Davies, who, however, was ultimately evicted. Thus for Pinter, room is not just a construction; it is personal space free of all inhibitions. It is not merely a spatio-topographical entity, but a psychological reality too. It becomes symbolic of a pattern of life—a solitary reign of comfort and coziness isolated from the prying eyes of the world yet fraught with the menace of intrusion or rather invasion. Thus the bleak nondescript setting of the room—recurrent in Pinter's plays—serves a sharp reaction against the dramatic setting of naturalistic drama.

The play *The Birthday Party* opens with Petey entering the room with a newspaper, which he reads out to Meg-the news of some Lady Mary Splatt who 'just had a baby'-'a girl'. The newspaper becomes a significant prop. Meg's spontaneous reaction to the news is:

MEG : Not a boy?

PETEY: No

MEG: Oh, what a shame, I'd be sorry,I'd much rather have a little boy. (*The Birthday Party*, 11)

Meg's yearning for a baby boy may be interpreted from Lacanian angle which suggests that "all desire is linked to a lack"[2]. Meg's childlessness is compensated by the presence of Stanley Webber whom she smothers with her over-solicitous motherly affection. To Meg, Stanley is a little child who needs to be pampered. So she gifts a boy's toy drum to a man in his late thirties on his birthday. She takes pleasure in carrying his morning cup of tea to his room and gets worried when he is late for breakfast. She flirts with him, ruffles his hair and behaves in an amorous manner even though Stanley speaks to him scornfully. She confesses that she has some enjoyable afternoons with him in his room. The sentimental birthday speech which she delivers at Stanley's birthday vindicates that she is emotionally involved with him. She says : I want to propose a toast to Stanley, because it's his birthday, and he's lived here for a long while now, and he's my Stanley now. (*The Birthday Party*, 54)

In Act I when Stanley says that he will leave Meg's place to accept a job somewhere, Meg passionately requests him :

Don't you go away again, Stanley…You stay with your old Meg. (*The Birthday Party*, 18)

Thus Meg is both a mother and mistress to Stanley. Meg with strong combination of motherly affection and sexual desire for Stanley is a mother image seen from the view-point of Oedipus complex. On another plane, Stanley is unwilling to leave the warm nest that Meg has built for him, and face the harsh world. It is the child's unwillingness to leave the warmth of the womb and be born into a hostile world.

The toy-drum which Meg presents Stanley in his birthday gains significance as a vital prop symbolizing the degeneration from a pianist to a mere toy drum-beater. Stanley's frustration as a failed artist is reflected in his playing the toy-drum wildly and violently as he feels enraged to find himself changed from a pianist to a drummer and that too a player of a toy-drum. The stage direction describes Stanley's gesture as:

He (Stanley) hangs the drum around his neck, taps it gently with the sticks, then marches round the table, beating it regularly. Meg, pleased, watches him. Still beating it regularly, he begins to go round the table a second time. Halfway round the beat becomes erratic, uncontrolled…He arrives at her (Meg) chair, banging the drum, his face and the drumbeat now savage and possessed.(*The Birthday Party*, 36)

The birthday party, which Meg arranges for Stanley—suggesting the rebirth of a metamorphosed Stanley—is packed with actions and gestures that become indispensible for exploring the thematic crux of this otherwise apparently meaningless play. When Meg expresses the idea of playing a game, Lulu proposes 'blind man's buff.' When Stanley is blindfolded, the stage direction describes the scenario as:

Stanley begins to move, very slowly, across the stage to the left. McCann picks up the drum and places it sideways in Stanley's

path. Stanley walks into the drum and falls over with his foot caught in it. (*The Birthday Party*, 63)

At this juncture, the toy-drum acquires significance. The toy-drum which symbolized Stanley's regression to childhood is now broken. Indeed the broken toy-drum implies the degeneration of the artist-self of Stanley, and also marks his entry into adulthood "not with a bang but a whimper."[3]

With the broken drum clinging to his foot, Stanley attacks Meg because she did not oppose the intrusion of the two gentlemen who has come to invade his territory. Stanley's violent gesture of trying to 'strangle' Meg is followed by a blackout leaving 'the stage in darkness'. The dexterous deployment of light and shade on stage explores the binary opposites in human psyche through the gesture of Stanley who oscillates between fair and foul, knowledge (insight) and ignorance (poor sight). In the darkness Stanley 'picks up Lulu and places her on the table'; attempting to ravish Lulu—an assertion of the long-lost machismo of an almost effeminate man; a step ahead from infantile sexuality into adult sexuality from which he had been long shrinking away.

Security—"mortal's chiefest enemy"[4]—is merely an illusion. This sense of insecurity and existential crisis loomed large in Pinter's personal life disturbed by the Nazi's attack on Jews. There were times when he saw the garden behind his home in flames due to bomb raids. His family had to evacuate many a times. He himself has stated:

"You think you are safe in your room, your territory…well, think twice. Darkness lies right around the corner, perhaps the very next one".

This fear right at the core of Pinter's heart is the fear of a Jewish boy in the East of London, of a Jew in the Europe of Hitler. *The Birthday Party* expresses through a poetic metaphor, Pinter's own existential anxiety. In fact, Stanley's references to certain people coming in a 'van' armed with a 'wheelbarrow' have clear menacing undertones. The van symbolizes a hearse, while the wheelbarrow a coffin. In this connection, Goldberg and McCann may be seen as agents of anxiety. This claim is vindicated in the following poem of Pinter—

"The thought that Goldberg was
A man to dread and know
Jarred Stanley in the blood
When, still, he heard his name."[5]

The play *The Birthday Party* shows how an individual who deviates from the accepted socio-cultural norms of behaviour is systematically daunted by the self-proclaimed guardians of the society. The play highlights that the society asks every individual to conform to its decorum and propriety built up by a collective morality. Any individual that flouts these norms of conduct is hounded and torn to pieces by the society. The warning that this society seems to hold up for every individual is conform or else all hell will break loose. An artist who breaks away from the society can become a disruptionist. Society is intolerant of dissidents and would like to force them to return to its fold and to fall in line with its requirements.

The inevitable happens, and a conflict between Stanley and the two agents of society, Goldberg and McCann, takes an acute form when the two men subject him to a gruelling interrogation, some of the questions have a bearing on the relationship between an artist and society—

Why did you leave the organization?

Why did you betray us?

Why did you come to this place?

(*The Birthday Party*, 49)

Here organization refers to society in general. And the questions are an impeachment of the artist who refuses to perform his social duties. Consequently, Stanley kicks Goldberg on his belly and McCann tries to attack Stanley with a chair. The artist, Stanley, is in doldrums on account of this hostility and finally cowers down before them.

Sight, poor sight and insight are parallel issues in the play which have been explored through the use of glasses. Stanley is almost rendered blind as McCann breaks his glasses. The feeling of blindness is aggravated when the light go out and there is a blackout in the room. This blindness symbolizes the artist's loss of insight. Needless to say, the glasses are symbolic of Stanley's perception of the world.

At the fag end, the once 'unshaven' Stanley wearing 'pyjama jacket' is tamed into a 'clean-shaven' man dressed in a 'dark well-cut suit and white collar', but he stares blankly. This make-over is the effect of the pressure of society to conform to its decorum and marks the

completion of Stanley's development from a tantrum-child to a gentleman (at least externally)—a step ahead from the Lacanian Imaginary Stage to the Lacanian Symbolic Stage. He ultimately takes leave from the boarding house and goes with the gentlemen, which reflects his joining the mainstream of the society. This reminds us of the way in which the artist is treated in totalitarian states like Russia and China. Bestiality personified, McCann and Goldberg deprive him of his artistic individuality and turn him into a mere puppet quite unlike Stephen Dedalus of Joyce's *A Portrait of the Artist as a Young Man*[6] who was successful in breaking the shackles of society to realise his vocation as an artist.

Martin Esslin as well as other critics has pointed out the fact that Pinter's theatre is a "theatre of non-communication". However, this paper would remain far from completion if I conclude without tracing the vitality of Pinteresque vacuum, silences and pauses which are not dead-stops in the communicative process but probes the limitations of language as a means of communication, and thereby serves to express the break-down of language. In this context, Samuel Beckett's comment on his magnum opus *Waiting for Godot* seems worth mentioning:

> Silence is pouring into this play like water into a sinking ship.[7]

Pinter's play *The Birthday Party* starts with a silence as Petey enters through the door. It is not Petey but Meg who breaks the silence and calls: "Is that you, Petey?" Petey does not answer the question and a vast vista of void is created. Meg's first three questions repeat the same enquiry only difference being syntactical order. It's just not a question but a challenge to break the silence. The pause and silence thus camouflage the storm within the conjugal relation as it hints at the breach in relationship between the husband and wife.

Notes

1. Harold Pinter, quoted in John Russell Taylor, Anger and After (Harmondsworth: Penguin Books, 1966), 285

2. Jacques Lacan constructs a model of identity formation that takes a three-stage process—the Imaginary, Symbolic and Real. In the Real-stage where the Imaginary and the Symbolic both seek power, the psyche is caught between the ***'lack'*** (the desire for the absent mother) and the need to fulfill this lack.

3. T.S. Eliot, 'The Hollow Men'—a cross-reference

4. William Shakespeare, 'Macbeth'—a cross-reference

5. See Baker, William, Harold Pinter—Biography, the poem entitled 'A view of the Party', 1958, Continuum International Publishing Group, 2008

6. James Joyce, *A Portrait of the Artist as a Young Man*—a cross-reference

7. Samuel Beckett, Waiting for Godot, Edited by G.J.V. Prasad, Pearson & Longman

—See secondary source (1) Katherine's 'The Dramatic World of Harold Pinter' for Pinter's traumatic childhood issuing out of Nazi's attack and the sense of insecurity.

—See secondary source (2) Cave's 'Body Language in Pinter's plays' for Stanley's neurosis in beating the toy-drum wildly.

—See secondary source (3) Ruby's 'The World of Harold Pinter' for the conflict between man and society, the symbol of room as virtual coffin

—See secondary source (5) Sanjay Kumar's essay for the vitality of vacuum and silences as a mode of communication in Pinter's plays

—See secondary source (6) for the tension of macromenace (threat of the unseen)

Selected Bibliography

Primary Source

Pinter, Harold, *The Birthday Party*, London Methuen & Co Ltd, II New Fetter Lane EC4, 1970

Secondary Source (1—7)

1. Burkman, Katherine H, The Dramatic World of Harold Pinter: Its Basis in Ritual, Ohio State University Press, 1971.

2. Cave, Richard Allen, 'Body Language in Pinter's Plays', The Cambridge Companion to Harold Pinter, Peter Raby, Cambridge University Press, 2001

3. Cohn, Ruby, 'The World of Harold Pinter', 1962

4. Singh, Mohindar, 'Harold Pinter—A Reappraisal', The Indian Journal of English Studies—Vol X, London, Orient Longmans, 1969

5. Kumar, Sanjay, 'Communication through silences and pauses in Harold Pinter's plays', Twentieth Century Literature in English, Delhi, 1996

6. Haugland Charles, 'Transformation of Menace: Naomi Wallace's Multiplicity of Threat and the Legacy of Harold Pinter', Theatre Arts School of Honors Projects, Illinois University. This paper is posted at http://digitalcommonsiwu.edu/theatre

7. Esslin Martin, The Theatre of Absurd, Penguin Books, 1965

Motherhood and Quest for Selfhood in Margaret Laurence's *A Jest of God*

Dr. Kavita Arya

Asst. Professor, Deptt. of English, Arya Mahila PG. College, Varanasi

Margret Laurence's *A Jest of God,* published in 1967, won the Governor General's Award and later became the basis for the film *Rachel.* It is a story of a woman, Rachel who as she comes to accept herself, comes to a fuller recognition of god. As Rachel begins to see herself as fallible as human, She can see God-as she no doubt once did as a child- in the central position of power. He works in his mysterious ways, letting humans become fools in order to be wise. And it is he, 'the one in control, who deserves the pity, not she: God's pity on God's (246).

The aim of present paper is to trace the female protagonist, Rachel's journey towards self-assertion and to bring out how it is through motherhood that she seeks her identity.

A Jest of God is a novel set against the backdrop of an imaginary landscape called Manawaka which represent a closed rigid patriarchal world in which the movement of a woman beyond her traditionally confined space is not an easy one. A woman has to have a fixed role in this limited world. Her life, as a result of this becomes stagnant and in this town, a woman herself has to seek change since the limited life of the town does not pose a possibility. Of 'change' in life, especially that of a woman. Laurence deals with a woman's search for identity against the backdrop of this rigid world. The author also interrogates the traditional institutions like marriage, family and motherhood. She also concentrates upon the power of motherhood as an annihilating as well as empowering force.

The author has created, in this novel, a possibility that motherhood or being a mother or being in the position of a mother can help a person to be a person in the position of power and to be able to assert oneself.

The protagonist, Rachel is thirty four years old, unmarried woman. She is a teacher and has a very low self-esteem. She has not gained any confidence through her education of through her profession as a teacher. She is always self-conscious and is a muted being. Rachel is completely silenced and is treated as a child or a non-person by people in her environment. However, as the novel progresses, there comes a change over the protagonist and she uses silence as a strategy to silence other and to become her own person.

The novel is full of internal as well as interpersonal conflicts which lead to mental trauma for the protagonist. The intensity of the conflict is certainly experienced by the readers. The author uses the interior monologues as a tool to intensify the psychological conflicts or dilemma that the protagonist faces.

Rachel's journey towards selfhood is not an easy one. She is surrounded by power full mothers like her own dominating mother, her sister Stacey and James' mother, Mrs. Doherty. In the initial phase of her development, Rachel is unable to accept Calla, her colleague who is unconventional and who tries to break away from the traditional confines. It is difficult for Rachel to do so because in this phase, she has not learnt about her father who 'lived the sort of life which he wanted to live'.

In this stage, for Rachel, the societal influence and expectations are very important. The observant eye of the society bothers the self-conscious Rachel. She has understood the patriarchal ideology of the society which institutionalizes motherhood and approves of a woman as a whole being only if the woman is a mother. So, for Rachel, to assert her individually, there does not seem to be any other alternative than to become a mother, 'league of matriarchs. Mothers of the world, unite' (28), as if, to foster this idea in her mind.

James' mother 'gains strength from his presence' (63) and therefore, Rachel's first attempt to be her own person is psychological motherhood. James is Rachel's student and can easily become the object of Rachel's motherly love. Rachel is very much concerned about him. She asked, 'does James hate school that much so as to be absent for all these days?' (30). When Willard, the principal asks her to send the child to him, she cannot argue and on the one hand, she thinks, 'I don't know whether I only feel the way I do because I care about

James and wouldn't will to see him hurt. Is there a better reason for not wanting him hurt?' But on the very other hand, she thinks, 'I no longer know whether I have the right to feel as I do'. The very next moment she thinks, 'how would I be wrong about this when I feel it so?'. And she again considers Willard to be a 'good principal'. She says, 'I will send him in' though 'there is dullness in her voice'. But the result of her self-contradictory action is a feeling of 'betrayal' on the part of James as he is beaten up by the principal. Consequently, there is a break in the relationship though Rachel in her muted voice says, 'I am not neutral-I am not detached-I know it' (32). Yet Rachel is unable to save James from Willard's anger. This is the result of Rachel's continuous self-contradiction, self-consciousness and her fear of everything and everybody around her though she conquers it in the later part of the novel.

Rachel is torn between her two images, one as a teacher and two as a mother. In another confrontation with James, her attempt to become his mother proves to be a failure since this confrontation is a painful one as James is unwilling to show her how many sums he has solved and without her knowledge and because of the burden of the role of a teacher, she hits him and then thinks, 'what is it? What's happened? I can't have done it' (64). However, she is unable to apologize to him.

The school vacation creates a possibility of Rachel's biological motherhood because she meets Nike Kazlik and has an affair with him. She wants to defy the fixed idea about herself as an angel and she also wants to break away from the feminine mystique. So, without any hesitation, she proceeds towards the confirmation of her biological motherhood. 'Her reaching out', according to Laurence, 'is very important, not the sex at all' (14).

Rachel has to become reckless in order to 'demystify' herself and she is determined to do so: 'I'd like to let him know that I can want too. I'm thirty-four. That's not old. I haven't fossilized'. 'Now I really do want him. Now I would do anything' (89-90). Her eagerness to enter a new identity is very much evident when Rachel readily accepts Nicks's invitation: Nick says, 'Hi Rachel, I was wondering if you were going to be busy that night?' 'No. No. I'm not.' 'Can I see you, then?' 'Yes. Yes. I guess so. Yes….' (102). The use of negation and assertion is significant.

During their meeting, she is determined not to disclose her virginity or 'let him know about her' (111). She employs her knowledge of women 'a woman's most precious possession is her body and her enigmatic self' (111). She intentionally wants to 'lose her reputation, to divest herself of it as though it were an oxen yoke, to burn it to ashes and scatter them to the wind' (114). However, this leads her to the existential question 'what would become of me?' (118).

Rachel, without any hesitation, goes to Nick's home to see him when his parents are away. She understands that 'Nick couldn't make himself care about something if he didn't. Nor about someone either' (137). She also misses the reference to her father who was called 'the jester' and she also missed the point that a jester's son has to be a jester. Her suspicion about her pregnancy is shocking to her but meeting with Hector, her father's acquaintance, exposes her to a new reality about her father and the way he lived the king of life 'he wanted most' and since she has taken after her father, Rachel at this phase in her life become a courageous woman, her choice seems to be becoming clearer to her than it was before and therefore, she thinks, 'Nick, give it to me' (145).Rachel reaches out telling Nick, 'if I had a child, I would like it to be yours' (153). 'Give me my children' (181), she yearns.

But Nick is 'not God and can't solve anything' as he says and besides, he shows a photograph of a boy of six years and intentionally creates confusion about the identity of the child i.e. whether the child is his or it is his photography as a child. SO, for Rachel, pregnancy is, on the one hand necessary to define her sexuality but on the other hand, it is 'as one thinks of disaster' (196) and therefore, she finds it difficult 'to do anything against it that would kill her as well' (196). But as she is full of contradictions, she thinks: 'it can't be borne. Not by me. What am I going to do?... The only fact is that it cannot be allowed to be' (197).

From this point onwards, Rachel's dilemma or trauma intensifies. On the one hand, she wants to be the mother to assert her Self and on the other, as she is unmarried, she is worried and says, 'what will become of me?' (201).

But this time, Rachel is being determined and decisive and says ‘I am not going to lose it. It is mine. I have a right to it that is the only thing I know with any certainty.’ (213) Having decided courageously to have the baby, Rachel creates a possibility of a situation of being an unmarried mother. She asked Calla, ‘what if I was pregnant, Calla?’ (215).

However, Rachel has to be a lone fighter deserted by Nike and determined to face any untoward consequences of her decision to have a baby. She has, like Santiago, ‘reaches far out’ and therefore, has to be ready to suffer. Yet there are times when she feels if she could just be beside him, then she ‘would be all right…would be able to do anything that was necessary’ (219-20).

Rachel’s ‘readiness to do anything’ is not rewarded. Dr. Raven confirms the absence of her pregnancy and the presence of a tumour which will have to be operated. According to many critics, this tumour signifies death. But Rachel survives this confrontation with death and though she is mortified because her expected pregnancy turns out only to be a tumour, she is also reborn: ‘she is alive and she will now be different’.

Of course, the agony is felt ‘oh my God! I didn’t bargain for this. Not this.’ In order to achieve the readiness to give birth to the child, Rachel has undergone agony, suffering, trauma and has metaphorically as well as literally broken away from all the traditional patriarchal confines and therefore, she says, ‘it’s my child, mine. And so I will have it. I will have it because I want it and because I cannot do anything else but have it.’ (210).

The removal of the tumour is the removal of fear and death from Rachel’s life. She is as if, reborn. ‘I’m the mother now’ ,says Rachel (225).Though she has not liteallly become a mother, her coming to terms with her Self is evident is her decision to have the baby and the acceptance of the reality about her. Her acute denouncement of the male support point to her self-reliance.

Rachel’s last expression of her role as mother is the direct result of her metamorphosis. She has gained her mother, retaliate and refute her and besides, She is able to take all the decisions regarding herself as well as her immediate environment which includes, especially ,her own mother. As mentioned earlier, Rachel uses silence and silencing as her strategy to defy the annihilating influence of her mother. In her speech, she recurrently uses the world ‘hush’ to mute her mother :’ “Hush, hush now. Sh, sh. I know. It’s not fair. You’re quite right. Try not to cry. Here-here’s your handkerchief. Blow your nose. Then you will feel better. I’ll get your sleeping pill now. It’ll calm you.”

“I don’t’ want to move, Rachel. Please .”

“I know. But we have to.”

“But why? Why?”

“Because it’s time.” (235)

Rachel’s final assertion of her self through motherhood is evident in her use of precision, in her use of order sentences, her decision to leave her town and also in the way she compels her mother to accompany her in spite of her mother’s reluctance. Rachel’s assertion of herself has led to the reversal of the traditional roles of mother and daughter and also the ‘fixed’ mother-daughter relationship, in which, in most of the cases, the forces of patriarchy are unleashed through the mother. Rachel has pushed her mother on the periphery, making her the ‘other’ and she her self has become the ‘subject’. Therefore, it must be said that Rachel has herself become a mother, a person who always represented power and control for Rachel since her childhood. Resultantly, at the end of the novel, Rachel is a member of the dominant class and an individual in the position of authority or control.

To conclude, it may be said that :

1. A Jest of God present a woman whose life is severely restricted. Rachel has internalized what she assume to be her mother’s and her community’s values, never openly questioning them. She begins to mature only when she decides to take responsibility for her life and its outcome. Rather than remaining a victim, Rachel her father. Seeing that he may have chosen his life, Rachel decides to choose hers. She begins to take charge, admit reality, accept herself and her role. ‘I am the mother now’ (225) is a significant statement which marks and maintains her growth.

2. Rachel asserts her Self through symbolically becoming a mother i.e. a person in the position of authority. From a self-conscious, self-pitying being, she becomes a self-confident person.

3. She knows that she is a victim but refuses to accept the assumption that the role is inevitable.

4. Her reaching far out is important in her journey towards her self-actualization through motherhood.

5. Her tumour symbolizes death and its excision, the removal of non-life which creates an opportunity for Rachel to grow into life.

6. Rachel's final position is one of 'partial victory' because she is no longer afraid of herself and has begun to learn the rules of survival.

7. Rachel accept her self generously and understand that she must become the fool to become wise against the backdrop of a sterile, claustrophobic and destructive town.

References :

Ardener, S. (ed.) (1981). Women and space: Ground Rules and social Maps. London : Croom Helm.

Badinter, E. (1980). Women's Oppression today. London: Verso.

Bassnett, S. (1986). Feminist Experiences : The Woman's Movement in Four Cultures. Boston : Allen and Unwin.

Bonner, F.(ed), Goodman, L. (Jt. ed), Allen, R. (Jt. Ed.) (1992).Imagining Woman : Cultural Representations and Gender. Cambridge : Polity Press.

Chatterji, L. (ed.) (1986). Women, Image, Text. Delhi :Trianka Pub.

Coates, J. (1986). Women, Men and language. London : Longman. Dass, V. (ed). (1995). Feminism and Literature. Delhi : Prestige.

De Beauvoir, S. (1988). The Second Sex. London : Pan Books Ltd. Evans, M. (ed) (1994). The Woman Question. London : SARC Pub. Eichenbaum, L. (1983). What do Woman Want? London : : M. Joseph firestone, S. (1979). The Dialectic of Sex. London : the woman's press.

Figes, E. (1970). Patriarchal Attitude : Woman in Society. London : Faber.

Fleenor, J. (1983). The Female Gothic. Montreal : Eden Press.

Friedan, B. (1979). The Feminine Mystique. Hermondsworh : Penguin books.

Friedan, B. (1983). The Second Stage. London : Abacus.

Greene, G. ed. (1985). Making a Difference : Feminist Literary Criticism. New York: Methuen

Hayman Ussher, J.(1997). Fantasies of Femininity : Reframing the Boundaries of Sex. London : Penguin

Jaykar, P. (1983). Indira Gandhi : A Biography. Delhi

Janeway, E. (1977) Man's Word, Woman's Place. U.S.A. : Penguin

Krouse, A. (1996). Quoted in K. Sharma (1996). Feminism and Literature. Delhi : Prestige.

Kumar, N. ed. (1994). Women as Subjects. Calcutta : M. Sen for Stree.

Lips, H. (1991). Women, Men and Power. Mountain View, Calif : Mayfield Publishing.

Laurence, M. (1966) A Jest of God.

Loomba, A. (1989). Gender, Race, Renaissance Drama. Delhi : Oxford University Press.

MacInnes, C. (1966). 'Mothers And Daughters' Mile 62 :186.

Modowell, L. (ed), Pringle, R. (Jt. Ed) (1992). Defining Women : Social Institutions Gender Division. Combridge : Polity Press.

Millett, K. (1980). Sexual Politics. Newyord : Ballentine Books.

Ramazanoglu, C. (1989). Feminism and the Contradictions of Oppression. London : Routledge

Rosen, B. (1989). Women, Work And Achievement: The Endless Revolution. London : Mac Millan Ruthven, K. (1984). Feminist Literary Studies. London : Cambridge University Press

Scheman, N. (1988). 'Missing Mothers/ Desiring Daughters : Framing the Sight of Women' in Critical Inquiry 15, Autumn.Pp. 62-69

Showalter. E. Feminist Criticism in Wildness.

Tong, R. (1989). Feminist Thought. London : Unwin Hayman Ussher, J. (1997). Fantasies of Femininity : Reframing the Boundaries of Sex. London : Penguin

Usher, J. (1997) Fantasies of Femininity : Reframing the Boundaries of Sex. London : Penguin.

Vipāsanā : The Technology of Spiritual Development

Dr. Uma Pant

Associate Professor, Philosophy Deptt. of Arya Mahila P.G. College, Chetganj, Varanasi

Spiritual Development is generally seen as a mystic process, something esoteric and inscrutable, beyond the comprehension of ordinary mortals, a result of divine grace or the grace of a spiritual master. The paper attempts to demystify it, to show that in essence it is the process of purification of mind of its dross, the mental defilements. This can be done most effectively through a scientific technique of self-observation, called Vipāsanā, rediscovered over 2500 years ago by Gautama, the Buddha. This technique can be comprehended in a scientific manner, and can be cultivated, like any other technical skill, by one's own efforts. Like any other technology, its efficacy can be verified, here and now, by anyone who practices it earnestly.

Most traditions describe the goal of spiritual development as the direct experience of the Transcendent Reality which is immutable and permanent, unlike the ever-changing and impermanent sensory domain, though they call it by different names like Self realization, God realization, experience of the Ātman or the soul, nirvāna, enlightenment, liberation, or entering the kingdom of heaven etc. By focusing attention on this Transcendent goal which bring about a permanent transformation in the person leading to a life of unshakeable inner bliss, an impression is often created that this is basically an inscrutable process. Since the only mode of gathering knowledge known to man is through the five senses, and their analysis through the intellect, how can one understand intellectually anything that is beyond the sensory domain? What prevents one from experiencing this ever present Transcendent Reality, and whether anything can be done to remove these obstruction, is rarely asked. No wonder spiritual development is generally seen as a mystic process, something esoteric and inscrutable, beyond the comprehension of ordinary mortals, a result of divine grace or the grace of spiritual master. As a result most scientifically oriented people, especially the modern skeptic youth, look upon the whole concept as a superstition and fall an easy prey to the prevailing materialistic world view and its ill effects.

What is Spiritual Development ?

The acme of spiritual development is certainly a mystic experience in that it involves transcendence of the sensory domain, and its therefore indescribable. But it is not a random event, the grace of some powerful, but capricious God, who needs to be appeased to achieve this. As all the enlightened one's have pointed out, the only reason we are not able to experience the ever present Transcendent Reality is that we are entangled in the sensory domain through various mental defilements, broadly categorized as cravings, aversions and delusion. It is easy to comprehend how eradication of these defilements leads to continual unshakeable inner bliss. If a person is bereft of defilements like ill-will, hatred, malice, deceit, aggressiveness, anger, fear etc., he would naturally have a feeling of loving kindness for all. Being free from irritability, he is naturally compassionate towards those who are suffering, and freedom from jealousy makes him naturally rejoice with those who are happy. Bereft of greed, avarice, lust, pride, etc. he is free from all clinging to the material world. He is naturally established in equanimity and can easily break though the delusions of the material world and experience the Transcendent Reality. Viewed in this light, purification of the mind is clearly the quintessence of spiritual development.

What Makes the Mind Impure ?

To appreciate this issue, it is helpful to put the question in other words: why does one become sad, angry, greedy, arrogant, jealous etc. ? The immediate answer which most people are likely to give is: One becomes sad, angry, develops hatred, etc. where one encounters something unpleasant, that one dislikes and wants to get away from. Again, one develops greed, avarice, craving etc. when the senses come in contact with anything pleasant, which one likes to hold on to, and does not want to lose. If this were the real cause of mind becoming impure, clearly there is no way out ; for none can avoid coming in contact with things, people, circumstances which are pleasant/un-pleasant. In this scenario, everyone is at the mercy of the surroundings.

Our ancient sages, like true research scientists, did not rest content with this apparent truth. They investigated the mind-body interaction to the hilt, and unraveled the whole mechanics of arising of these mental impurities. An extremely elaborate account of the working of the human mind can be found in the Abhidhamma-Pitaka[1], the collection of the discourse of the Buddha dealing with this profound topic. However for most practical purposes it is sufficient to recognize four principal subdivisions of mental functions, viz. consciousness, perception or evaluation, feeling or sensation, and mental reaction[2]. As soon as any of our sense comes in contact with its object (say eye come in contact with a visual object) the chain of events which happen, at almost lighting speed, is as follows : The consciousness cognizes the 'contact' of the object with the sense, and immediately the intellect analyses and evaluates it on the basis of past experience and categories it as pleasant or unpleasant; concomitant with this categorization the sensations on the body change, and this gives rise to the habitual reaction; if the sensation is pleasant, one enjoys it and wants it and wants to hold on to it, and if it is unpleasant, one dislikes it and attempts to remove it. Thus arise the emotions of anger, greed, lust, ill-will, hatred, etc. and as this process is repeated moment after moment, the mind becomes progressively impure.

How to Purify the Mind ?

This understanding of the "mechanism" or working of the mind, clearly provides a way out of the apparent 'stranglehold' of the senses and making the mind pure. None can prevent the senses from coming into contact with the objects, and once there is contact, there would certainly be the evaluation; and surely the sensations too would change in tune with this evaluation. All this is uncontrollable. But it is not necessary that one should always react to the sensations in the usual habitual manner. With practice one can develop the ability to observe these sensations dispassionately, without any reaction, and thus break the habit pattern that strengthens craving and aversion. By a sustained practice of this kind, clearly it should be possible to completely come out of this deep-rooted habit pattern.

Most of the time, however, these sensations are subtle, and below the threshold of normal awareness. Very rarely-e.g. when there is an upsurge of strong emotion like fear and there is horripilation, sudden palpitation etc. – do these become so prominent as to be 'felt' by the conscious mind. However the subconscious mind 'feel' even the subtlest sensations continually and keeps on reacting to them. Mere intellectual understanding of the need to observe these sensations without any reaction can not influence the sub-conscious mind and the conscious-mind (or the intellect) is bridged and one develops the ability to consciously feel even the subtlest sensations occurring on the body.

In order to develop this ability, mind needs to be sharpened. This is best done through a sustained practice of observation of the breath, or Anapana[3], as the Buddha called it. This involves keeping attention focused in the area around the nostrils and feeling the incoming breath and the outgoing breath, as respiration process takes place naturally. Whenever the mind wanders off, a mental note is made of this 'wandering' of the mind and the attention brought back gently to the breathing process. A few days continual practice sharpens the mind so much that it can begin to feel the sensations occurring in this area of the body. And then one practice feeling consciously the sensations at other parts of the body too, and train the mind not to react to them.

What is *Vipāsanā*?

The development of mindfulness to enable one to observe without any reaction the natural body sensation is the quintessence of the Vipāsanā practice. However, in its entirety, it has four facets as expounded by the Buddha in the famous discourse called the Mahā Sattipatthana Suttam[4]. As the very name Vipāsanā suggests, it involves observation (-pāsanā) of the body-mind phenomena in a special way, as it really is, and not as it appears to be, so as to explore through direct experience the whole truth about ourselves. The first facet of mindfulness is to become aware of various postures and movements of the body (e.g. sitting, walking, turning, stretching, bending, etc.). The second facet is to become aware of the body as a conglomeration of ever changing sensations like hardness, softness, pain, heat, vibrations, tingling, throbbing, etc. All this should be done without any evaluation or reaction. Should any reaction arise due to the stubborn habit pattern of the mind,that too is not condemned but made an object of observation. This is the third facet of mindfulness, viz. to become aware of the

various states of the mind as they arise (e.g. aversion, craving, lust, hatred, fear etc.) in a balanced manner, without any judgment or reaction, without getting lost or wallowing in them. The fourth facet is to become aware of the dhamma, the fundamental nature of various mental states (how, for example, desire hinders the spiritual growth, how faith helps etc.) and the fundamental Laws governing human existence (like those governing the origin and the cessation of suffering etc.) through direct experience. Mind and matter being closely interrelated, the mental state and contents immediately influence the body sensations, and so the observations of sensations offers a means to examine the totality of our being[3]. And this non-reactive observation of the sensation readily reveals to us the three fundamental characteristics of all phenomena, viz. impermanence, suffering and selflessness. Myriad sensations arise and pass away; various states of mind arise and pass away in accordance with laws of nature; one has no control or suzerainty over these events; they have their own momentum. No where behind is there any abiding entity to whom these events or mental states personally belong. As one practices Vipāsanā for a long time, experiencing again and again these fundamental characteristics of all phenomena, gradually one gets released from the habitual identification with body – mind complex as one knows from direct experience its evanescent nature. Naturally, the pride and ego get attenuated. The complete uprooting of the ego prepares one for the experience of Transcendent Reality beyond the sensory domain – the summum bonum of spiritual development.

It is evident from the above description that the quintessence of spiritual development,, viz., the purification of mind, can be effectively done by mere observation, without any condemnation or approbation, of whatever is happening within the body-mind-complex. There is nothing mystic of esoteric about it. J. Krishnamurthy explains the whole process with a very telling analogy ; "How do you look at the tree? Do you see the whole of the tree? If you don't see it as a whole, you do not see the tree at all. You may pass it by and say, 'There is a tree, how nice it is !' or say, 'It is a mango tree' , or 'I don't know what those trees are; they may be tamarind trees'. But when you stand and look – I am talking actually, factually – you never see the totality of it; and if you do not see the totality of tree, you do not see the tree. In the same way is awareness. If you do not see the operations of your mind totality in that sense – as you see the tree – you are not aware. The tree is made up of the roots, the trunk, the branches, the big ones and the little ones and the very delicate one that goes up there; and the leaf, the dead leaf, the withered leaf that is dropping, the fruit, the flower – all that you see as a whole when you see the tree. In the same way, in that state of seeing the operations of your mind, in that state of awareness, there is your sense of condemnation, approval, denial, struggle, futility, the despair, the hope, the frustration; awareness covers all that, not just one part. So you are aware of your mind in that very simple sense, as seeing a whole picture – not one corner of the picture and saying 'who painted that picture?'[5]

However, to actually do so, is not at all an easy task. We are all so habituated to assess, evaluate and manipulate everything that comes to our consciousness from the point of view of self interest, that this seemingly simple task of "choiceless awareness" becomes quite difficult. And paradoxically, we need to learn to do so. The formal training of Vipāsanā, given traditionally in 10- day intensive residential retreats[6], is essentially for this purpose. The participants are first advised to take five percepts, viz. abstaining from violence, stealing, sexual misconduct, use of intoxicants, and false speech. This is necessary because any violation of these fundamental moral principles pollutes the mind so much that it is impossible to take any further steps in the direction of purifying the mind. Having made the resolve to observe these principles scrupulously, the participants can begin the practice of Anapana, described above, to sharpen the mind; and thereafter practice Vipāsanā to purify it.

Concluding Remarks

Spiritual development can be comprehended rationally and achieved by systematic practice of Mindfulness. Like any other technology, this can also be learnt by all by systematic practice of Vipāsanā, and its benefit accrue, "here and now". It is the key to know oneself, truly and intimately, without any pretensions. As one realizes one's strengths and weakness, one can lead a more balanced life, free from both inferiority complex and arrogance, and full of understanding for others who also have similar complex and arrogance, and full of understanding for others who also have similar weaknesses. One

becomes truly humble. The attitude of mindfulness also puts 'inner brakes' on rash and impulsive behavior by slowing down the transition from thought to action thus allowing more time for coming to a mature decision. It enables one to realize the futility of day dreaming and other wasteful mental activities like remorse, resentment, longing etc; and to get rid of these, not by violently suppressing them, but by making them objects of mindfulness. Under the penetrating gaze of choiceless awareness, even the most stubborn and recalcitrant habit patterns get transformed quite akin to the well – known phenomenon in quantum mechanics, where the very process of observation changes what is observed. Thus one can lead a life of inner peace of harmony, without getting upset by the vicissitudes of life. Mindful living naturally enables one to maintain that inner distance from things, people and from one's own desires and wishes, which lead to real freedom – that has been alluded to by the words: "In the world, but not of the world[6]."

Notes and References

1. Website: http://www.accesstoinsight.org/lib/bps/misc/abhiman.html & http://www.accesstoinsight.org/cannon/abhi dhamma/index.html

2. W. Hart, 'The Art of Living: Vipāsanā Meditation as taught by S.N. Goenka', Vipāsanā Research Institute, Igatpuri, 1998 Reprint.

3. Maha Sattipatthana Suttam, Published by Vipāsanā Research Institute, Igatpuri, April 1993.

4. Nyanaponika Thera, The Heart of Buddhist Meditation, Rider, London, 1962.

5. J. Krishnamurthy, The Book of Life, Harper Collins, New York, 1995.

6. Vipāsanā websites: www.dhamma.org and www.vri.dhamma.org

Children with Special Needs in Indian Perspective

Dr. Anita Agrawal

Associate Professor B.Ed Deptt., Arya Mahila P.G. College, Varanasi

"There is nothing more than the equal treatment of non equals"

T. Jefferson

The Term Children with Special Needs (CSN) should include each and every type of students in the class and out of class. Every child faces problems one time or other but some are lucky get support or guidance in overcoming their problems. Children when problems are accumulated may create maladjustment. In such cases child needs personal attention or counseling services.

"Mankind owes to the child the best is has to give". Thus proclaimed the UN General Assembly on November 1959. In its Declaration of the Rights of the Child, roles of the state and society have been clearly defined.

Principle 2,6 and 7 categorically stresses, "The child is entitled to receive education which shall be free and compulsory, at least in the elementary stage. He shall be given and education, which will promote his general cultural and enable him, on a basis of equal opportunity to develop his abilities, his individual judgment, and his sense of moral and social responsibility, and become useful member society".

"The child shall have full opportunity for play and recreation which should be directed to the same purpose and education: society and the public authorities shall endeavor to promote the enjoyment of this right". The child thus is given top priority to receive in all circumstances that require protection and relief.

In consonance with the UN Declaration, our own country evolved a national policy for the welfare of children and declared it exactly three 3½ and half decades ago (August 1974). The national policy for children declared, "The nation's children are a supremely important asset, their nurture and solicitude are our responsibility".

The policy (NPE-1986) laid special emphasis on the removal of disparities and equalization of educational opportunities by stressing the needs of those who have been denied equality so far.

In the early 1900s, the voluntary bodies initiated teachers training programmes for children with special need. Integration of disabled in regular school began to gain momentum. Selected universities in the country started departments of special education and courses offering Bachelors and Masters in special education. To meet the instructional needs of integrated disabled children, National Council for educational research and training, New Delhi and Regional Colleges of Education designed multi-category teacher's training programmes to prepare resource teachers for regular primary schools.

The existing special schools, resources, and manpower are inadequate to the number of children with special needs in the school going age 5/14 years. Many special schools are in urban areas. While there are 1, 54,000 visually handicapped and 1, 31,000 hearing handicapped children in the school going age in rural areas, the number in the same age group in urban areas are 25,000 and 29,000 respectively. The disability ratio is high in rural areas while the facilities and services for these disabled children and more in number in the urban areas.

Children: The objective is to integrate the physically and mentally handicapped with the general community as equal partners, to prepare them for moral growth and enable them to face life with courage and confidence.

The following measures will be taken in the regard.

- Wherever it is feasible, the education of children with motor handicaps and other mild handicaps will be common with that of others.
- Special schools with hostels will be provided as far as possible, at district headquarters, for severely handicapped children.
- Adequate arrangement will be made to give vocational training to disabled persons.
- Teachers training programmes will be reoriented particularly for teachers of primary classes to deal with special difficulties of handicapped children.
- Voluntary effort for education of disabled people will be encouraged in every possible way.

The national Policy on Education suggests integrated education for mild levels of disabilities, while for the moderate and severe levels of disability, vocational education is suggested. Accordingly, a reorientation of the existing teachers training courses is recommended. It also assures government support to voluntary efforts in the provision of special education facilities. These policies envisage that special education will reach out to a large target population.

While special schools emerged as the first of their kind in the provision of educational services and are currently the largest in number, integrated education in general schools was introduced in the 1980s. The Project for Integrated Education for Disabled (PIED) is being tested in one block each in the states of Haryana, Madhya Pradesh, Maharashtra, Mizoram, Nagaland, Orissa, Rajasthan and Tamilanadu and in one composite area in the Municipal Corporations of Delhi and Baroda. While the special schools are programme get funded by the Department of Education, Ministry of Human Resources Development, Government of India.

The national Council for Education Research and Training (NCERT) and the National Institute for the Handicapped coordinate the efforts to assist the educational programmes in preparation of materials and generation of manpower. In addition, linkage with the Ministry of Health and the Ministry of Labour are established for pro-school and post school programmes for disabled individuals. Thus along with early intervention and vocational training, education also takes its place in the continuum of overall rehabilitation of disabled individuals.

Under this comprehensive plan there is an urgent need to take up various programmes by several national agencies and regional centers. Keeping in view the Constitutional directive and problems, of the disable, there is an urgent need to help these deprived section of the society by preventing an increase in the disabled population and to rehabilitate and provide services to the already disabled population and to rehabilitate and provide services to the already disabled.

At least 10 per cent of children are disabled. They have the same right to education as non-disabled and they require active intervention and specialized services.Most disabled children in developing countries receive neither specialized services nor compulsory education.Significant advances in teaching techniques and important

innovate developments have taken place in the field of special education and much more can be achieved in the education of the disabled persons.

In view of the urgency of the need to help these deprived children of the society and to achieve the goal of universalization of elementary education (Universalization of Elementary Education was among the top priorities in the approach to the Ninth Plan (2002-07). The Parliament has passed the 93rd Constitution Amendment Act in 2002 to make education a fundamental right) the following measures can be taken up.

(a) There is an urgent need to survey the incidence and prevalence of different disabled children in the country.

(b) There is an urgent need to establish reliable methods of identifying children with special needs (disabled).

(c) Efforts should be made to evolve indigenous assessment and diagnostic procedures to help the children with special needs.

(d) Realistic and effective intervention programmes of different kinds and types of disabled children should be developed.

(e) Orientation programmes for regular teachers on different aspects of special education, which include nature, problems and education of children with special needs, should be conducted.

(f) The special education component should be inbuilt into the pro-service and in-service education of the school teachers.

(g) Research should be conducted to formulate viable educational objectives for children with special needs, which include curricular activities, instructional designs, learning experiences, tools and techniques for evaluation.

(h) Studies should be conducted to promote integrated education programmes in our schools.

(i) Advocacy programmes, programmes aiming at attitudinal changes and sensitization of masses in general and educational functionaries in particular to the needs of children with special needs, should be organized.

(j) Research in the field of special education should focus on socio-cultural aspects of disabilities, research on the cause, types and incidence of disabilities, the economic and social conditions of persons with disabilities and availability and efficacy of existing resources.The above measures will definitely help the children with special needs.

References

1) Bhargava, M. (1994) : Introduction to Exceptional Children, Their Nature and Educational Provision, New Delhi, Sterling Publishers.

2) Bhaskararao, Digumarti (2004) : Education for All : Achieving the Goal (Vol.2) New Delhi; APH publishing Corporation. PP.158-160.

3) Chauhan, S.S.(1989) : Education of Exceptional Children, New Delhi, Indus Publishing Co.

4 Cruick, Shank M.M. and : Education of Exceptional Johnson (eds) (1975) Children and Youth London, McGraw Hill.

5) Das, M. (2000) : Education of Exceptional Children, New Delhi, Atlantic Publisher & Distributor.

6) Dubey, M.N. (2005) : Gifted and Talented Education, New Delhi, Mittal Publication.

7) Frawel, M.(2004) : Special Education Needs Paul Chapmal, Publishing, Sage Publication.

8) Gopal Krishna, P.V. (2001) : Education opportunity in Abrad. Delhi: Kalpaz Publication.

9) Government of India (1986): National Policy on Education New Delhi; Ministry of Human Resource Development, Department of Education.

10) Government of India (1986) : Programme of Action – New Delhi.

11) Jayanthi Narayan : Special Education in India – Action and Disability News, Vol.5 No. 1, 1994.

12) Kundu, C.L. (Editor in chief.) : Status of Disability in India, 2000, New Delhi, Rehabilitation Council of India.

13) Kanhai, Prachi (2005) : Encyclopedia of child development (Vol. 1) Delhi: Commonwealth publishers PP. 1-44.

14) Justice, M. Rama Jois, (1998) : Human Rights and Indian Values, National Council for Teacher Education, New Delhi.

15) Ministry of Human Resource Development, Dept. of Education, Warnock, H (1978) Special Education Needs: Reports of the Committee of Inquiry on the Education of Handicapped Children and Youth : Landon HMSO.

16) William et. All (1992) : Exceptional Children (4th Edition New York : Mack Milliaon publishing Co.

Sufism and Its Prominent Order in India

Dr. Meraj Hashmi
Lecturer (Part time), Department of Sociology,
Arya Mahila P.G. College, Varanasi

Conceptualizing Sufism

Sufism or taṣawwuf is defined by its adherents as the inner, mystical dimension of Islam. A practitioner of this tradition is generally known as a ṣūfī. Another name for a Sufi is Dervish. Classical Sufi scholars have defined Sufism as "a science whose objective is the reparation of the heart and turning it away from all else but God.[1] Alternatively, in the words of the Darqawi Sufi teacher Ahmad ibn Ajiba "a science through which one can know how to travel into the presence of the divine, purify one's inner self from filth, and beautify it with a variety of praiseworthy traits.[2] Classical Sufis were characterised by their attachment to dhikr (a practice of repeating the names of God) and asceticism. Sufism gained adherents among a number of Muslims as a reaction against the worldliness of the early Umayyad Caliphate (661-750 CE)[3] Sufis have spanned several continents and cultures over a millennium, at first expressed through Arabic, then through Persian, Turkish and a dozen other languages[4]" Orders "(turuq)", which are either Sunni or Shi'i or mixed[5] in doctrine, trace many of their original precepts from the Islamic Prophet Muhammad through his cousin 'Ali, with the notable exception of the Naqshbandi who trace their origins through the first Caliph Abu Bakr[6.] Other exclusive schools of Sufism describe themselves as distinctly Sufi.[7] Modern Sufis often perform dhikr after the conclusion of prayers.

Origins

In its early stages of development Sufism effectively referred to nothing more than the internalization of Islam.[8] According to one perspective, it is directly from the Qur'an, constantly recited, meditated, and experienced, that Sufism proceeded, in its origin and its development.[9] Others have held that Sufism is the strict emulation of the way of Muhammad, through which the heart's connection to the Divine is strengthened.[10]

From the traditional Sufi point of view, the esoteric teachings of Sufism were transmitted from Muhammad to those who had the capacity to acquire the direct experiential gnosis of God, which was passed on from teacher to student through the centuries. Some of this transmission is summarized in texts, but most is not. Important contributions in writing are attributed to Uwais al Qami, Harrm bin Hian, Hasan Basri and Sayid ibn al-Mussib, who are regarded as the first Sufis in the earliest generations of Islam. Harith al Muhasibi was the first one to write about moral psychology. Rabia Basri was a Sufi known for her love and passion for God, expressed through her poetry. Bayazid Bistami was among the first theorists of Sufism; he concerned himself with *fana* and baqa, the state of annihilating the self in the presence of the divine, accompanied by clarity concerning worldly phenomena derived from that perspective.[11]

Sufism had a long history already before the subsequent institutionalization of Sufi teachings into devotional orders (*tarîqât*) in the early Middle Ages.[12] Almost all extant Sufi orders trace their chains of transmission (*silsila*) back to Muhammad via his cousin and son-in-law Ali. The Naqshbandi order is a notable exception to this rule, as it traces the origin of its teachings from Muhammad to the first Islamic Caliph Abu Bakr.[13]

Different devotional styles and traditions developed over time, reflecting the perspectives of different masters and the accumulated cultural wisdom of the orders. Typically all of these concerned themselves with the understanding of subtle knowledge (gnosis), education of the heart to purify it of baser instincts, the love of God, and approaching God through a well-described hierarchy of enduring spiritual stations (*maqâmât*) and more transient spiritual states (*ahwâl*).

Most Prominent Sufi Orders in India:

Of the various Sufi orders, Muslims of India prominently follow Chistiyya, Naqshbandiyya, Qadiriyya and Suharabardiyya. Of them the impact of Chisti order is visible even in small villages of Indian subcontinent. Khawaja Moin-ud-Din Chisti, a disciple of Khwaja Abu Abdal Chisti, the propounder of this order introduced it in India. Born in

Afghanistan in 1142 AD, he came to India with the army of Shihab-ud-Din Ghuri in 1192 AD and selected Ajmer as his permanent abode since 1195. His shrine became a place of pilgrimage largely with the support of Muslim rulers. Akbar used to have annual pilgrimage there.[14]

Four Islamic mystics from Afghanistan namely Moinuddin(d. 1233 in Ajmer), Qutbuddin(d. 1236 in Delhi), Nizamuddin (d.1335 in Delhi) and Fariduddin (d.1265 in Pattan now in Pakistan) accompanied the Islamic invaders in India. All of them were from the Chistiyya order of Islamic mysticism. Radiating from Delhi under Nizamuddin and following the trail of Mohammad ibn Tughlaq towards the south, the Chistiyya spread its roots all across India.[15]Internationally famous Sufi Shine at Ajmer Sharif in Rajasthan and Nizamuddin Auliya in Delhi belong to this order.

A section of Sufis under Chistiyya order was not against adjustment with Hindu saints of Bhakti cult and used even Hindi language for Islamic devotional songs. However, the orthodox Ulama with royal support forced the Sufis to raise the slogan of "back to Shariat" Even though Ulama had certain differences with Sufis over theological and mystic issues, Shariat remained a cementing force between them. Later both the Islamist groups joined together to woo the rulers with a view to furthering their self-seeking interest.

Suharawardy order of Sufism was founded by Shihabud-Din Suharawardy of Baghdad and introduced in India by his disciple Baha-ud-Din Zakariya of Multan. Suharawardiyya order of Sufism became popular in Bengal.[16] Qadiri order founded by Abdul Qadir whose tomb is at Baghdad. Its influence is extensively among the Muslims of south India.

Baha-ud-Din Naqshband (1318-1389) of Turkistan founded Naqshbandi order of Sufism. Insistence on rigid adherence to Shariat and nurturing love for prophet was the essence of this order that established its hold in India under the patronage of Mogul rulers, as its founder was their ancestral 'Pir' (Spiritual guide). "The conquest of India by Babur in 1526 gave considerable impetus to the Naqshbandiyya order"[17]. Its disciples remained loyal to the throne because of the common Turk origin. With the royal patronage of most of the Mogul rulers Naqshbandi order served the cause for revival of Islam in its pristine form.

Khwaja Mohhammad Baqi Billah Berang whose tomb is in Delhi, introduced Naqshbandi order in India. Though, the Sufis of this order were lying low during the period of Akbar, Khalifa Shaikh Ahmad Sirhindi, (1564-1624), a favourite disciple of Baqi Billah achieved increasing importance and popularised this order when the Great Mogul became bed ridden. Baqi Billah, nicknamed him as 'Mujaddid (Reformer or reviver of Islam for the second millenium).

The concept of Tawhid (Unity in God), which is the real formulation of Sufism suggests that Islamic mysticism has no difference with the formulations of other non-Islamic faiths about the oneness of God. On this basis Sufism became popular in India during the period of Muslim rule.

References:

1. Ahmed Zarruq, Zaineb Istrabadi, Hamza Yusuf Hanson—"The Principles of Sufism." Amal Press. 2008.

2. An English translation of Ahmad ibn Ajiba's biography has been published by Fons Vitae.

3. Hawting, Gerald R. (2000). *The first dynasty of Islam: The Umayyad Caliphate AD 661-750.*Routledge . The title of the book establishes this fact. See Google book search.

4. Michael Sells, Early Islamic Mysticism, pg. 1

5. Rehearing Quran in open Translation ,Neil Douglas-Klotz

6. Kabbani Muhammad Hisham (2004). *Classical Islam and the Naqshbandi Sufi Tradition*. Islamic Supreme Council of America. p. 557.

7. http://www.uga.edu/islam/sufismwest.html

8. IslamOnline.net

9. Massignon, Louis. Essai sur les origines du lexique technique de la mystique musulmane. Paris: Vrin, 1954. p. 104.

10. Imam Birgiyi, *The Path of Muhammad*, WorldWisdom,

11. For an introduction to these and other early exemplars of the Sufi approach, see Michael Sells (ed.), *Early Islamic Mysticism: Sufi, Qur'an, Mi'raj, Poetic and Theological Writings*,

12. J. Spencer Trimingham, *The Sufi Orders in Islam,* Oxford University Press,

13. Kabbani Muhammad Hisham (2004). *Classical Islam and the Naqshbandi Sufi Tradition*. Islamic Supreme Council of America. p. 557.

14. Murray T.Titus, 1979, Indian Islam, Page 117.

15. Claude Markovitz, 2002,(edited) A History of Modern India, Anthen Press.

16. Contemporary Relevance of Sufism, 1993, published by Indian Council for Cultural relations.

17. Saiyied Athar Abbas Rizvi,1992, History of Sufism in India,Volume 2,Page 180

Implication of Constructivism Theory on Classroom Teaching in Educational Psychology

Miss. Preeti Sangwan

Assistant Professor Deptt. of Mathematics, R.K.S.D. College of Education, Kaithal

Educational psychology is the branch of psychology focused on the development of effective teaching techniques and the assessment of learners' aptitudes and progress. A look at adult education wouldn't be complete without a view of the theories shaping the ways we learn and the ways we teach. Behavioral psychology also known as behaviorism, which is a theory of learning based upon the idea that all behaviors are acquired through conditioning. Conditioning occurs through interaction with the environment. According to behaviorism, behavior can be studied in a systematic and observable manner with no consideration of internal mental states.

a. Many critics argue that behaviorism is a one-dimensional approach to behavior and those behavioral theories do not account for free will and internal influences such as moods, thoughts, and feelings.

b. Behaviorism does not account for other types of learning, especially learning that occurs without the use of reinforcements or punishments.

c. People and animals are able to adapt their behavior when new information is introduced, even if a previous behavior pattern has been established through reinforce

In education, constructivist approaches emphasise active engagement of learners with the conceptual content through staregies such as talking (not just listening), writing (not just reading), interaction, problem-solving and other 'active' approaches. A central theme of constructivism is the responsibility of the learner to actively engage in meaning-making of the material.

Constructivism takes into consideration not only the material being learned but also the prior knowledge of the student in its social context. Constructivism takes the focus away from teacher teaching and places the focus on the student learning. Prior to constructivist theory, a lot of focus was placed on the Behaviorist theory. There were even programs that sought to improve teacher's abilities called "Effective Teacher Training" and Teacher Performance Appraisal System." As effective as these programs may have been in training the instructors, it did not explain or remedy poor student learning. Constructivism sees learning as active and multi-dimensional, not static. Knowledge is a process not a product.

Origin of Constructivism Theory

In perspective of psychology, the first who contribute a lot to the development of constructivism thought and apply it to classes and students' learning and development are Dewey, Piaget, and Vygotsky. Dewey advances the experimental learning theory, emphasizing on the generation and reform of experiences. Switzerland Famous psychologist Piaget is taken as the forerunner of modern constructivism. In 1972 Piaget puts forward the concepts of "assimilation" and "conformability". In his opinion, the recognition means the subject affects the object by his unique recognition structure, achieving a balance between the subject and the object. Based on psychological ideas, Piaget thinks that all knowledge has the external origin and students' cognitive development is actualized naturally in the process of receiving knowledge. During 70s and 80s in 20th century, Russia excellent psychologist Vygotsky founds the base for the formation of modern constructivism. According to his idea, learning is a social construction. Individual learning is under certain history and social background.

Basic Ideas of Constructivism Learning Theory

1. Based on Knowledge

Knowledge is only an explanation and an assumption but not the final answer for all questions. In contrast, it will be discarded along with the human process and new assumption will appear. Besides, knowledge cannot summarize the world rules precisely. In other words, we can not apply knowledge to certain problems directly.

We have to analyze certain issue based on practical conditions. In addition, constructivists agree that knowledge cannot live on its physical form and out of specific entity. Although language and signals

endow knowledge with certain forms, it does not mean learners have same understandings toward these statements, just as one hundred people will have one hundred different understandings toward Hamlet. These understandings are based on individual learners' experiences and backgrounds, what is determined by specific learning experience.

2. Based on Learining

Learning is the process that individuals construct their cognitive structures. "Construction" is a kind of initiative, conscious, and self-organized recognition way. It is the "interaction" between the subject and the object. The learning process is the construction of knowledge. Learning is an initiative construction and the generation of meanings. This process is completed by the interaction of learners' old and new knowledge. In other words, pure external stimulation is meaningless. Only when learners code, process, and construct their unique understandings based on their previous experiences, can it be real learning.

3. Based on Students

Students enter classrooms with their rich previous experiences. They hold their opinions toward daily life and even universal issues. Even though they do not know some issues and have no experiences, they may form special explanations and assumptions based on previous experiences and cognitive abilities as some issues appear. That is not illogical guess but logical assumption based on previous experiences. Therefore, teaching should take students' previous knowledge and experience as the growth point of new knowledge, and introduce students to generate new knowledge from the former.

4. Based on Teachers

As we emphasize on the students as the subjects, we should change the role of teachers, from the initiator and the indoctrinator into the helper and the driver for students constructing meanings initiatively. In other words, teachers should be the designer of teaching environment, the guider for students' learning, and the academic consultant for students. It discards the traditional teaching mode that takes teachers as the center, which merely focuses on conveying knowledge, regarding students as the object for receiving knowledge. The new teaching mode takes students as the center, under the guidance of teachers. Teachers organize and guide the whole teaching process.

Implication of Constructivism Theory on Classroom Teaching in Basic Education

Based on analysis above, we know that constructivism learning theory puts forward new explanations for learning and teaching. According to this theory, students are the subject in teaching. Teachers should offer more humanism cares for students and create a favorable teaching environment for students. It emphasizes on the initiatives and the interaction in teaching. Students should focus on exploration learning and cooperative learning based on previous knowledge and experiences by means of interactive actions. By this way, students can improve their cognitive ability continuously. Teachers can help students form the positive technique, the affection, the attitude, and the habit in learning. All these innovative ideas constitute the complete constructivism teaching theory system, which contribute a lot to modern teaching theory.

(1) Reform the teaching views.

Prof. Lan Ye has said: "Today's teaching reform should change not only the teaching theory but also the teachers' teaching views, together with teachers' daily teaching activities." In the traditional teaching mode, teachers explain, analyze, and introduce too much. Students receive knowledge passively. They have few time and space for thinking. The traditional mode neglects students' practicing process and just input fixed things into students. As a result, students will refuse to think by themselves. This mode taking teachers' teaching as the center is not good for developing students' potentials and their development. In contrast, the constructivism agrees that learning is initiative and positive. In learning, students are the subject of teaching. Without students' initiative participation, the learning is meaningless. In teaching, teachers are the subject of teaching. Teachers mean to inspire and guide students to learn knowledge effectively.

(2) Emphasize on cooperation and communication and train students' cooperative consciousness.

In traditional teaching, the cooperation between teachers and students, students and students are neglects. Constructivism agrees that knowledge is the social construction of individuals and others by

negotiation. Therefore, in the process of constructing knowledge, students must cooperate and communicate with others. In a cooperation and communication environment, students can enlarge their views, instead of receiving knowledge passively. It can help them to build up their own knowledge system, cultivate their innovative spirit and problem-solving ability.

(3) Students' previous knowledge, experiences, thinking mode, learning habits and methods are the start for teaching.

Modern cognitive psychology shows that learning is an interactive process of new knowledge and old knowledge. The former knowledge and techniques stored in the memory system are important internal conditions for generating study activities. Ausubel, in perspective of meaning study, gives priority to students' original knowledge in learning. He said: "If I conclude all educational psychology into one principle, it will be that the only important factor affecting study is what learners have known. Knowing about this point, the teaching will be effective."Constructivism learning theory illustrates this point deeply. Learning is an initiative process based on students' previous knowledge and experiences. Before the class, teachers should prepare for two fields. Firstly, compare and analyze the curriculum standards and textbooks, and confirm the teaching targets.

Make best use of textbooks flexibly. Secondly, analyze and understand students, and know students' previous knowledge and experiences. Therefore, we advocate that teachers should take students' previous knowledge and experiences as the growth point for new knowledge during the process of teaching. Guide students to produce new knowledge and experience from original ones, achieving the mutual connection of new and old knowledge.

(4) Teaching should be changed from authoritative conducting to equal association and communication.

In traditional teaching, teachers are at a sovereign authoritative position. They do not respect or care for students as necessary, which leads to a gap between teachers and students, and even stimulates conflicts. Ancient men said: "People with more knowledge are teachers and with morals are examples." Teachers should give students more respects, one more chance, and one more trust, building a kind and harmonious relations. Teachers should treat students with an equal, kind and considerate attitude, supplying a loose environment for students' learning. Then, students can learn to communicate with teachers and response to teachers' praises and criticizes, which can greatly improve the relations between teachers and students. Construct a democratic and equal teacher-student relation.

(5) Create a better teaching environment.

Constructivism learning theory requires to study in real or semi-real environment, emphasizing on non-structural knowledge or students' previous experiences. Traditional teaching focuses on structural knowledge but not non-structural knowledge and students' life experiences. Therefore, in teaching, we should create an interactive learning environment for students by modern teaching media, helping students to explore and discover new knowledge. Students should solve problems by themselves. Build a bridge between new knowledge and students' previous knowledge, which can improve students' ability of solving problems.

Conclusion

To sum up, constructivism teaching theory has already turned into a hot inside and outside, which advances many new thoughts and views. We should judge and absorb them reasonably, dealing with sorts of relations properly, including the subjectivity and objectivity of knowledge, the transfer and construction of knowledge in learning, teachers, guidance, and students as the center, and applying relevant theory to basic education teaching properly.

References

1. Ding, Yuankun. (2003). Constructivism teaching theory and the implication. Journal of Shenyang College of Education. No.3, p 165-167.

2. Yang, Chunhong & Zhang, Chunsheng. (1998). Constructivism and reform of basic education. Journal of Hebei Normal University: Education Studies. No.3, p38.

3. Zhong, Zhixian. (2002). Core thoughts of constructivism teaching idea. China Educational Technology. No. 2, p17-18.

4. Zou, Yanchun. (2002). On the constructivism learning theory's development origins and logic starts. Studies in Foreign Education. No.5.

Higher Education : Instruction in a System's Perspective

Amit Jayaswal
Research Scholar, Bioinformatics, Mahila Mahavidyalaya, Banaras Hindu University, Varanasi, India.
Email: amitabhjayaswal@gmail.com

Introduction

Teacher training at the higher education or tertiary level is highly appreciated these days. The basic assumption which underscores this trend is the ability to look at teaching in a systems' perspective. From a systems' perspective or from a systemic perspective, teaching is a systematic and organized endeavour where the practitioner or teacher is in need of a thorough orientation. To be effective, a teacher of tertiary education must have a hold on both the macro and micro dimensions of tertiary/higher education. Macro dimensions are comprised by the historical, anthropogenic, philosophical and sociological bases of education. Micro dimension of higher education holds a college or a university as its axis and deals with the instructional activities going on in these institutions.

A system's perspective

A system is an aggregation or assemblage of elements united by their interaction and interdependence to form a whole and they operate in a manner that effective functioning of the system is achieved. The basic components of a system are the input(s), the process(es) performed upon the inputs and the output(s). From a systemic point of view, instruction-as-a-system requires different inputs as infrastructural facilities, teacher's competencies, learner's background, curriculum, extra-mural resources and avenues etc.

To operate the above inputs, the instructional system uses many different processes which require teaching/communication skills, student's active involvement and procedures for the utilisation of infrastructural facilities and curriculum. The output of the instructional process, namely the instructional outcome is to be evaluated to understand the effectiveness of the system to achieve these outcomes/objectives.

Under this viewpoint a classroom system is analysed from the system's perspective. Thus there could be two categories of input alternatives viz., teacher controlled and learner/student controlled. With respect to this systems' perspective, various instructional strategies are thought of and evolved. Teacher controlled input alternatives are three instructional techniques: lecture, demonstration and term teaching. Student controlled instructional techniques start with self – learning methods. They can either be fully structured or partially structured. The fully structured methods can either make use of programmed learning material or follow a personalised system of instruction or depend upon computer-assisted instruction.

Note that from an input perspective, a higher education teacher requires numerous skills to put the various instructional inputs into practice so as to achieve instructional objectives. For example the teacher's skills to deliver lectures, to conduct interaction sessions, to use various audio-video communication aids etc. are pertinent to the teacher's competence and communication skills. Also the output of the instruction process must be regularly and periodically evaluated to check the real progress of teaching with respect to the desired instructional outcomes.

Instruction in a System,s Perspective

The system's perspective differentiates between instruction and learning. Under the system's perspective, an instructional strategy is evolved meticulously. For this the educational goals and instructional objectives are duly taken into account.

Instructional System

While the principle aim of primary education is to make one literate, the major goal of tertiary or higher education is to enable the students to reach the state-of-the-art of knowledge. The systems perspective to instruction consists in a scientific, rational and objective arrangement of instructional materials, gadgets and personnel in a judicious time and space. It is to properly arrange the components of instruction in the best possible manner to enable the teacher to teach and the students to learn.

Learning versus Instruction

Learning is a change in behaviour of individuals as per the Behaviourists' school of thought. Learning is a change in the cognitive

structure of an individual according to the Cognitivist's school of thought. It is construction of new learning experiences by the learner which is a result of interplay between cognition and the social context of the learner by the Constructivist's school of thought. Overall, learning is a change in the cognitive structure of an individual. In other words, when an individual learns, she shifts from an individual cognitive structure with its corresponding idiosyncratic behaviour to a different cognitive structure with its corresponding idiosyncratic behaviour.

Learning can never happen in isolation. It is always the by-product of interaction. An individual interacts with various components of the environment which result in learning. In informal, natural learning there is no particular direction in which learning will happen once an individual interacts with her environment. This is referred to as unspecified/generic/subjective learning. In natural environment an individual interacts with the components of the environment in an informal and unorganised manner leading to unanticipated /unspecified learning. However in a formal context, as in a classroom, learning happens in a specified/specific/objective manner.

Instruction involves creation of a controlled environment with which the individual interacts leading to the attainment of certain pre-specified learning outcomes or instructional objectives. The controlled environment consists of various components with which an individual interacts and gains experience, leading to the attainment of certain pre-specified learning outcomes. Note that an interaction between an individual and its environment changes both the internal cognitive structure as well as the outward behaviour of the individual. This change may affect both the present and the future responses or orientation of the individual to the environment i.e. the interaction has affected a modification/development in the conceptual structure of the individual. Because the environment by itself is not alive and cannot affect a change, the interaction by the living organism affected change, so the organism or the learner conclusively has an active role in the entire process of learning.

If the environment is controlled, it simply becomes a facilitator for the learner to develop her own cognition, her own unique conceptual schemes and logical structures. Thus it can be concluded that for learning to take place properly, organisation of the environment becomes essential. Herein lies the role of a teacher who can organise the environment in a

particular manner. The teacher decides to create as ideal learning environment with its various components which are interrelated and interdependent. Each component is valuable in a peculiar manner for ideal learning and they all complement as well as supplement each other to erect the best possible facilitating environment.

Conceptual Details of a System

A system is a product or process which has a number of components which operate in an interrelated and interdependent manner towards the attainment of certain functions. An open system accepts information from its interacting and interfacing components/systems and is capable of adapting to new circumstances. A closed system is one which does not accept new information and is essentially detached from interacting/interfacing with other outer systems. A system does nor work in vacuum. It is surrounded by other systems with which it interacts. These form the environment of the system, the systems' environment.

Information flow happens between an open system and its environment and it adapts itself to the needs generated by the environment. On the other hand, a closed system does not accept new information from the environment and thus remains detached with it. The different components of a system – if they can be broken down to their constituent parts–are called sub-system of the main system. Depending upon one's perspective even a subsystem could become a system if the observer is specifically interested in that subsystem. Hence for an integrated set of components–a particular part could be understood as a system or a subsystem, depending upon one's perspective.

For example, for 'teaching', a classroom is a system with components as whiteboard, marker, students, teachers, posters, dusters etc. Alternatively if the school is a system, classroom is a subsystem of the entire school and the other components of the school viz., playground, swings, nursery/garden, swimming pool etc. become the environment for one subsystem – the classroom.

Systems come into existence because of (system) goals. The performance of a system is judged by observing the achievement of the system goals. If a higher education institute is a system, its goal becomes imparting higher education. The various subsystems of this system are management, academics, research, infrastructure, sports and recreation facilities, liasioning with other institutes, competition

with other institutes, quality assessment etc.; each of which is a subsystem by itself. Without any of the above interacting subsystems, the higher education institute is incomplete as a system. If this system interacts with its environment and responds by suitable adaptations e.g. society and government policies or global education developments it is an open system otherwise it is a closed system. Overall, from an encyclopaedic perspective, any system will have a minimum of three components: input, processes and output.

According to ancient wisdom, as you sow, so shall you reap i.e. as would be the input, will be the output-if there are no processing bottlenecks. For a chosen output only suitable inputs are to be provided i.e. as per the desired output, should the input be provided. Once administered, a given input will go all the way and influence the output according to their merit and not according to the expected/thought-about output. Similarly if an expected output is to be actually delivered, it is necessary to account for the design of the process also i.e. the procedural details.

The provided/selected input material goes through the designed process to yield the actual output. The actual output need not always be the same as the expected output. If only the desired/chosen output is to be delivered, it is necessary to modify either the inputs or the design of the process itself i.e. this information is the feedback provided to the selection of inputs and this gap between the observed and the actual output serves as the feedback to alter either the process design or the provided inputs.

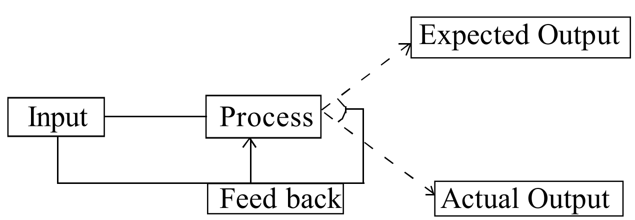

Instructional System

It is the scientific management of instruction. It is scientific because it has to be continuously monitored and rationally modified

according to each and every chosen goal for some instruction. In this process the teacher/instructor has a central role and she decides about what inputs/methods are to be chosen and in which sequence should they be presented to deliver to the students the desired output.

This exercise is so important that even before embarking upon what topics are to be learned and how would the students learn them, the teacher has to first think as to what will be the objectives/outputs of the entire exercise for the students. Once this decision is taken, the teacher scientifically selects the topics or learning experiences the students have to be exposed to. As a catalyst the teacher selects the methods and the approaches to teaching, the different materials needed for interacting, manipulating, using by students. Note that for certain defined cognitive/behavioural changes to really happen in the students, after learning, it is critical that the instructional system is scientifically and properly designed.

Systems' Approach to Instruction

As in all cases of a systems approach, such a perspective for instruction would definitely deal with the three standard parts of a system viz. input of instruction, the process of instruction and the output of instruction.

Instruction itself is such an interaction of an individual with some organised environment which endeavours to attain (certain predefined) instructional objectives. If instruction is happening ideally, attainment of the objectives could be construed in terms of either a subtle unexposed change in cognition or a pronounced and exposed change in behaviour. Change is sure to follow ideal instruction. To understand the systems approach to instruction let us make the behavioural change our axis of understanding.

From a systems perspective those behaviours of a learner with which she enters the instructional process i.e. the entry behaviours constitute the input of the instructional system. The instructional process ought to affect (positive) changes in these entry behaviours. Consequently the learner will come out of the instructional process with some changes – be it a gross behavioural change or a subtle change in thoughts.

The behaviours with which one starts i.e. the behaviour which exists before instruction happens are known as entry behaviours. After

instruction, whatever behavioural change is sought is known as expected terminal behaviour(s). The instructional process must be designed so as to maximise expected terminal behaviour. However ideal instruction eludes practice. Thus whatever terminal behaviour(s) really present are known as actual terminal behaviour(s). This gap in the expected and observed terminal behaviour is due to the lack of effectiveness of the instructional process. However this difference acts as a feedback to gradually improve the instructional process/system. Summarily, a systems approach to instruction plays with entry behaviour, tries to modify it via instruction and tries to achieve expected terminal behaviour but however achieves actual/observed/real terminal behaviour. The gap between the expected and the actual terminal behaviour is used as a feedback to increasingly incorporate and make the process of instruction ideal. The eight stepped system's approach to instruction is outlined below:

Step I: Output Specifications

In the systems approach, before charting out the details of the instructional process it is necessary to appreciate and formulate the output specifications. To define expected terminal behaviour is to know the output specification. Only after an achievable output specification has been established can a goal-oriented and practical instruction process be formulated. However before formulation due attention must be paid to the (pre-) learned entry behaviour of students at the time of their enrolment to put things into perspective and define pragmatic output specifications. Note that from a system's perspective the I step of task analysis is formulation of expected terminal behaviour/output specification.

Step II: Criterion Test

Assessment of the learner – after the instructional process, is pivotal to gauge how far could the output specifications be achieved. For this a criterion test has to be prepared. A good criterion test must refer all the items/goals/objectives of the output specifications so that each output specification could be objectively assessed. Thus the II step of the systems approach to education/instruction is preparation of the assessment sheet which is also known as criterion test.

Step III: Formulate Instructional Input Alternatives

As per the decided output specifications and in consonance with the criterion test one now comes to think of the inputs. A plethora

of different input choices as methods, media and material exist. The III step of the systems' approach to education/instruction boils down to formulation of instructional input alternatives. Out of the various input alternatives available, the instructor has to carefully judge and choose those inputs which exactly hit the bull's eye i.e. help crystallise/precipitate ideal instruction. Neither should the chosen instructional alternatives overlap so as to waste complementary time and efforts nor should they leave any of the desired output specifications untouched e.g. a lecture or a written matter both can independently achieve the specified outcome of an instructional process, but which one has to chosen over the other or whether both have to be given weightage in some well analysed proportion or whether they have to be supplemented with the III input alternative of practical/lab work needs to be thought about, discussed and chosen here in this step.

Step IV: Selection of the Best Set of Inputs

It is selection of the best suited input alternatives with respect to the definite and precise achievement of the specified outputs.

Step V: Preparation of Learning Material

Learning material is to be prepared considering the terminal behaviour and the nature of selected inputs. Learning material should be comprehensive and go into specific situations of learning, and development of learning material should account for the specified outputs. Proper sequencing of the chosen input alternatives and their logical continuity should be reflected from the learning material.

Step VI consists in analyzing whether the learning material, the chosen input alternatives and the criterion test are fruitful in achieving the specific objectives or not. For this, **lab testing** of the entire system is carried out on a sample population which is representative of the population of persons for whom the strategy is developed.

Step VII step consists in **field tryout** of the entire instructional system after numerous lab settings. If field tests raise certain flaws of the entire instructional system, they should be duly rectified.

Step VIII is the last step which is **revision/outcome**. After the field tryouts and subsequent modifications the instructional system must be practised on the target population. However this must not be construed as an end by itself. With time and demographics which ultimately affect the learning abilities of the target population, the entire instructional

system needs to be modified and changed in a continuous manner. This makes the entire process of development of an instructional system – from a system's perspective – a cyclical process.

Summary of steps involved in the development of instructional system

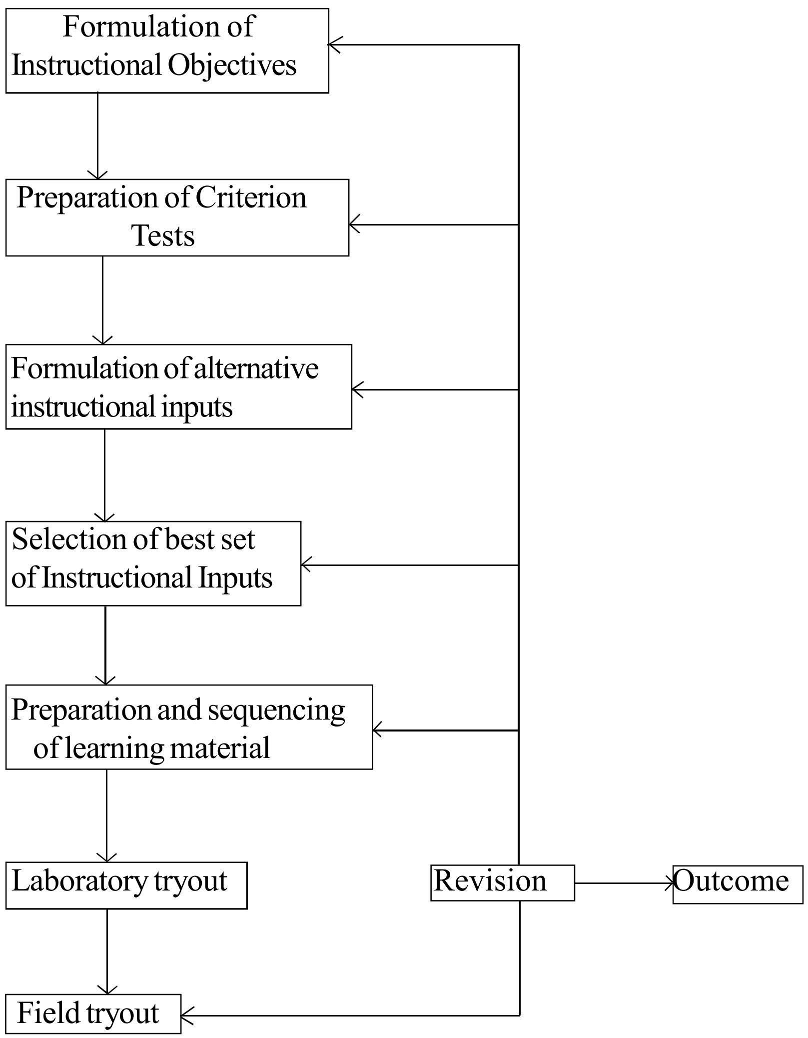

Five parameters for selection of instructional inputs

1. Instructional objectives.
2. Learner's characteristics.
3. Nature of discipline.
4. Availability of resources, as infrastructure and time.
5. Size of group - teaching inputs vary with respect to this.
6. Skills of the teacher.

Effectiveness and Efficiency

These are the two indicators of the functioning of any system and hence are applicable to education/instruction.

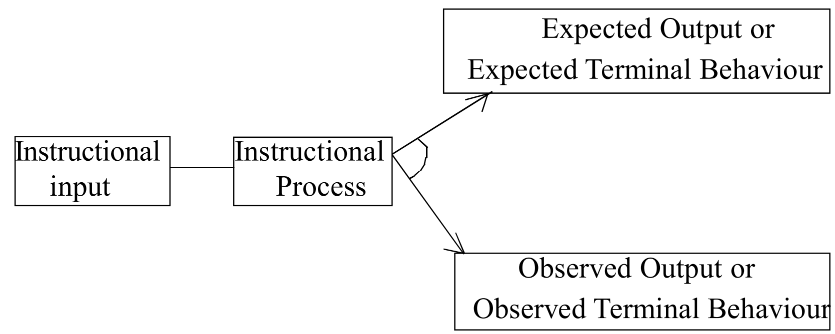

Effectiveness of an instructional system is the extent to which the actual/observed learning output approximates or matches the expected learning output or terminal behaviour. Lesser the gap between the two, more the effectiveness of the instructional system and vice versa.

Efficiency depends upon the cost and time involved in the instructional process. Sometimes there might be competing choices where if cost is less, time involved is more and vice versa. These difficulties must be resolved with respect to the wisdom of the most efficient achievement of goals which are to be achieved through the instructional process.

Twin Roles of the Teacher in the Instructional System

Teacher as an INPUT

Under this traditional role, the teacher delivers a lecture or guides the students through a tutorial or conducts a discussion session.

The teacher can be compared to any other instructional input and thus may even be replaceable by some suitable alternative e.g. a well-prepared instructional material. The teacher has to be versatile as an input in that she has to organise and execute the other instructional inputs.

Teacher as a SYSTEMIST

A relatively modern role, the teacher uses the other instructional inputs to make the instructional process effective. She is a decision-maker and chooses the most important inputs akin to the master conductor of an orchestra. She repeatedly undergoes the scientific process of selecting and integrating the instructional inputs, including herself as an input and synthesises the instructional system. As a systemist, the teacher is outside the system boundaries and creates and modifies the instructional system.

To summarise, the teacher has a dual role in the instructional process when viewed from a system's perspective which imparts wholesomeness to the instructional process.